आकाशवाणी पुस्तक-माला-१

समाज और संस्कृति

आकाशवाणी द्वारा प्रसारित तेरह वार्ताएँ

वार्ताकार :

राजाराम शास्त्री

उपाचार्य तथा अध्यक्ष,

समाज विज्ञान विभाग,

काशी वि[illegible]

पब्लिकेशन्स डिवीज़न

सूचना और प्रसार मन्त्रालय

भारत सरकार

अनुक्रम

		पृष्ठ
	वार्ताकार की भूमिका	४
१	विभिन्न मानव जातियां और उपजातियां	७
२	व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध	१४
३	सम्पत्ति की कल्पना	२०
४	जीविकोपार्जन के रूप	२६
५	विकास की अवस्थाएं	३३
६	विवाह की पद्धतियां : भारत तथा अन्य समाजों में	३९
७	सामाजिक जीवन में परिवार का महत्व	४६
८	वर्ग और वर्ण	५२
९	राज का स्वरूप और विकास	५७
१०	धर्म का स्वरूप	६३
११	सामाजिक नियंत्रण की शक्तियां	६८
१२	सामाजिक प्रगति का सार्वभौम नियम	७४
१३	भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याएं	८०

वार्ताकार की भूमिका

आज के जगत की अधिकांश कठिनाइयाँ मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की कठिनाइयाँ हैं, और सामाजिक मनोविज्ञान का विषय ये ही मानव सम्बन्ध हैं। समाज इन मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों को हल करने के लिए अपने विज्ञान का प्रयोग करना चाहता है। किन्तु राजनीतिज्ञ, व्यापारी, सेनानायक, धर्माचार्य और विज्ञापन-विशेषज्ञ यह समझते हैं कि वे मानव-व्यवहार के मूल सिद्धान्तों और आवश्यक तथ्यों का पर्याप्त ज्ञान रखते हैं, जो उन्हें मनुष्यों के बीच व्यवहार के अनुभव से प्राप्त होता है। निस्संदेह ये लोग, और अधिकांश व्यक्ति जो कि कुछ समय तक जटिल समाज के बीच जीवन बिताते हैं, लोगों के व्यवहार के सम्बन्ध में बहुत कुछ व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, और व्यावहारिक दृष्टि से वे मानव प्रकृति के सम्बन्ध में जो कुछ जानते हैं, वह उनके दैनिक जीवन में उपस्थित होने वाली अनेक समस्याओं को हल करने के लिए पर्याप्त होता है। किन्तु यह भी उतना ही स्पष्ट है कि उनका यह ज्ञान समय की अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए पर्याप्त नहीं होता। सारे संसार के मनुष्यों में सद्भावना का एक बृहद् भंडार विद्यमान है, किन्तु वे नहीं जानते कि इस सद्भावना को किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव और स्थायी शान्ति के रूप में परिवर्तित किया जाय। विज्ञापन-विशेषज्ञ, प्रचारक और राजनीतिज्ञ अपने व्यावहारिक मनोविज्ञान से कभी-कभी भावी घटनाओं को जान सकते हैं और नियंत्रित कर सकते हैं, और इसी लिए वे अपने को सामाजिक मनोविज्ञान के ज्ञाता समझते हैं। किन्तु उनका ज्ञान वैज्ञानिक

कसौटी पर खरा नहीं उतरता और उनका भविष्य-ज्ञान मिथ्या सिद्ध हो जाता है तथा नियंत्रण असफल हो जाता है। ये लोग जहाँ अपने भविष्य-ज्ञान अथवा नियंत्रण में सफल होते हैं वहाँ अपनी सफलता का कारण भी बताते हैं। किन्तु ये कारण उनकी संस्कृति में प्रचलित अंधविश्वासों और रूढ़ियों से ली हुई व्याख्यायें मात्र होते हैं। वे प्रायः लोक प्रचलित रूढ़ियों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार के सिद्धान्तों का मूल्य क्या है, यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि इनसे उलटे कथन भी उतने ही विश्वास के साथ उद्धृत किये जाते हैं। जहां एक ओर यह नीति बताई जाती है कि 'असत्य की अनेक बार आवृत्ति करो, लोग उसमें विश्वास करने लगेंगे', वहाँ दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि 'अन्त में सत्य की ही विजय होती है।' कहीं यह कहा जाता है कि 'आदमी कपड़ों से बनता है' और कहीं यह कि 'तुम कौवे को हंस नहीं बना सकते।' एक बार व्यंग करते हैं कि, 'बूढ़ा तोता राम राम' और दूसरी बार यह बताते हैं कि 'आदमी जीवन भर विद्यार्थी रहता है।' एक अवसर पर यह सिद्धान्त बताया जाता है कि 'आंख से ओझल, ध्यान से ओझल', और दूसरे अवसर पर यह कि 'पार्थक्य से प्रेम बढ़ता है।' किसी प्रसंग में यह वाक्य उद्धृत किया जाता है कि 'पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम' और दूसरे प्रसंग में यह कि 'सभी मनुष्यों की नसों में एक ही खून बहता है।' यदि इन रूढ़ियों का कोई मूल्य है तो इतना ही है कि ये, किसी एक प्रसंग में जो अनुभव हुआ है, उसी के संक्षिप्त निरूपण हैं। यदि दूसरे प्रसंग में कही बात नहीं होती तो हम उसके विपरीत दूसरी रूढ़ि का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार के काम चलाऊ ज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान में बड़ा अन्तर है और इस अन्तर को न समझना खतरनाक है। विज्ञान व्यावहारिक तथ्यों का सावधानी से अध्ययन करके ऐसे सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण करता है जो व्यापक रूप से अनेक सामाजिक समस्याओं पर लागू होते हैं। आज की नई और कठिन समस्याओं का सामना करने के लिए कामचलाऊ और रूढ़िगत ज्ञान नितान्त अपर्याप्त और खतरनाक सिद्ध होता है। इसके लिए मानव व्यवहार का वैज्ञानिक ज्ञान आवश्यक है। भारत के नवीन जनतन्त्र के निर्माण के लिए तो इसकी आवश्यकता और भी अधिक है। यदि भारतीय जनमानस को अपनी सामाजिक तथा राजनीतिक जिम्मेदारियों को वहन करने के योग्य बनाना है, तो भारतीय नेताओं को सामाजिक मनोविज्ञान के बुनियादी तथ्यों का ज्ञान अनिवार्य रूप से प्राप्त करना होगा। नहीं तो इस बात का खतरा है कि 'जो ही रोगी भावे सो ही बैद बतावे' की नीति पर चलकर अवसरवादी लोग अपना

प्रभुत्व कायम रखने की ही चिन्ता करेंगे और जनमानस का विकास अवरुद्ध होगा। इसी दृष्टि से आकाशवाणी की ओर से सामाजिक मनोविज्ञान तथा समाज और संस्कृति पर व्याख्यान मालाओं का प्रबन्ध किया गया था। इस पुस्तिका में समाज और संस्कृति सम्बन्धी तेरह वार्ताओं को प्रकाशित किया जा रहा है कि भारतीय पाठक इससे यथोचित लाभ उठायेंगे।

१

विभिन्न मानव जातियां और उपजातियां

मनुष्य के भौगोलिक वितरण से उसके जातीय इतिहास का बहुत कुछ पता चलता है। जब हम प्राचीन काल के मनुष्यों पर दृष्टि डालते हैं, जबकि पृथ्वी का स्थल भाग सारा का सारा एक साथ मिला हुआ था और पुरानी दुनिया तथा नयी दुनिया अर्थात् अमेरिका भी बेरिंग सागर के क्षेत्र में एक बर्फ़ानी मार्ग के द्वारा सम्बद्ध थे, तो हम देखते हैं कि उस समय एशिया और अमेरिका के एक बड़े भाग में मनुष्यों की एक ऐसी जाति निवास करती है जिसकी त्वचा हल्के पीले रंग की, बाल सीधे, चेहरा चौड़ा, नाक बड़ी, ओंठ छोटे और आंख की ऊपरी पलक भारी तथा आंख के अन्दर के कोनों को ढक लेने वाली है। साथ ही हम एक दूसरी जाति को भी देखते हैं जिसका रंग गहरा काला, बाल घुंघराले या लहरदार, नाक चपटी, चेहरा आगे की ओर निकला हुआ, ओंठ मोटे, आंखें खुली हुई और हाथ-पैर लम्बे हैं। यह जाति अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और न्यूगिनी से दक्षिण पूर्व की ओर फैले हुए द्वीप समूह में निवास करती है और यत्र तत्र दक्षिणी एशिया में भी मिलती है।

स्थूल रूप से इन दोनों जातियों को मंगोलायड और निग्रायड नाम दिया जाता है। इनके अतिरिक्त एक बड़ी जाति आस्ट्रेलायड जाति है। इसमें संदेह नहीं कि एक समय ऐसा था जब आस्ट्रेलिया भी एशिया से मिला हुआ था। किन्तु वह अत्यन्त प्राचीन काल में ही एशिया से अलग हो गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि वहां के निवासियों का मूल स्थान दक्षिणी एशिया है और सर्वप्रथम यहीं से मनुष्य का पदार्पण वहां हुआ क्योंकि वहां उच्च वर्ग के स्तनपायी जीवों में मनुष्य और कुत्ता, ये ही दो जीव पाये जाते हैं। छोटे जीवों से बड़े जीवों के विकास की अन्य कड़ियां नहीं मिलतीं जिससे यह परिणाम निकलता है कि वहां जीवों का विकास निचले स्तर पर ही रुक गया था। मनुष्य लोग वहां तब गये जब उन्होंने नौका संचालन की कला में इतनी प्रगति कर ली कि वे एशिया से आस्ट्रेलिया को अलग करने वाले समुद्र को पार कर सके। इस विचार की पुष्टि इस बात से होती है कि दक्षिणी एशिया की

अनेक जातियों में, जैसे लंका की वेद्दा जाति तथा दक्षिण भारत की अन्य आदिम-जातियों में वे गुण मिलते हैं जो आस्ट्रेलियन लोगों के विशेष गुण माने जाते हैं। आस्ट्रेलायड जाति को कुछ विद्वान निग्रायड जाति की ही एक शाखा मानते हैं जो बहुत प्राचीन काल में ही उससे अलग हो गयी और स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई। किन्तु अन्य विद्वान इसे स्वतन्त्र जाति ही मानते हैं। अफ्रीका के पिगमी अर्थात् बौने लोगों का, जिन्हें निग्रिटो कहते हैं, निग्रायड जाति से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

एक दूसरी बड़ी जाति यूरेशियन या काकेशायड जाति है, जिसकी विशेषता उसकी त्वचा की वर्णहीनता अर्थात् श्वेतता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह जाति मंगोलायड जाति का ही एक भेद है। किन्तु अनेक विद्वान इसे एक स्वतन्त्र जाति ही मानते हैं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संसार की चार मूल जातियां मानी जा सकती हैं, दो हिन्द महासागर के किनारों पर बसी हुई निग्रायड और आस्ट्रेलायड जातियां और दो प्रशान्त महासागर के किनारे उत्तरी और दक्षिणी दोनों अमेरिका, एशिया और यूरोप में बसी हुई मंगोलायड और यूरेशियन जातियां। संसार की अन्य जातियां इन्हीं की स्थानीय शाखाएं अथवा उपजातियां हैं।

यूरेशियन जाति की तीन शाखाएं मानी जाती हैं। इनमें पहली और सबसे प्रमुख जाति नीली आंख, लम्बे कद और दीर्घ कपाल अर्थात् लम्बे सर वाली नार्डिक या आर्य जाति है। दूसरी जाति उससे साँवली, छोटे सिर वाली अल्पाइन जाति है। तीसरी जाति छोटे कद और लम्बे सर वाली भूमध्य-सागरीय जाति है।

इस प्रकार संसार की कुल ६ मुख्य जातियां हैं। भारत के निवासी इन छहों मुख्य जातियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, और चार भिन्न जातीय भाषाएं बोलते हैं। हो सकता है इनके अतिरिक्त और भाषाएं भी रही हों जो अब लुप्त हो गयी हैं।

भारत के सबसे प्राचीन निवासी निग्रायड जाति के निग्रिटो लोग थे जो अत्यन्त प्राचीन काल में यहां निवास करते थे। वे आदि प्रस्तर युगीन सभ्यता के लोग थे जो पत्थर के प्राकृतिक टुकड़ों का औजार की तरह प्रयोग तो करते थे किन्तु औज़ार बनाना नहीं जानते थे। विद्वानों का कहना है कि ये लोग अफ्रीका से अरब और ईरान के समुद्र तट से होते हुए भारत में आये और पश्चिम तथा दक्षिण भारत में बसे। धीरे धीरे ये लोग उत्तर भारत तक फैल गये और फिर वहां से मलाया और इण्डोनेशिया के द्वीपों की ओर बढ़कर फिलि-

पाइन्स और न्यूगिनी तक पहुंचे। इनके बाद भारत में आने वाली जातियों ने अधिकांश में इन्हें नष्ट कर दिया या आत्मसात् कर लिया। इस समय ये दक्षिण भारत की कुछ आदिम-जातियों के रूप में अवशिष्ट हैं और तमिल भाषा बोलते हैं। इसके अतिरिक्त आसाम के मंगोलायड नागाओं में भी इनके कुछ लक्षण दिखाई देते हैं। केवल अंडमान द्वीप में इस जाति के थोड़े से लोग ऐसे रह गये हैं जो अपनी मूल भाषा बोलते हैं। ये लोग प्रागैतिहासिक काल में निग्रेस अन्तरीप नामक बर्मा के दक्षिण पश्चिमी सिरे से चलकर अपनी प्रारम्भिक नावों में समुद्र यात्रा करते हुए यहां पहुंचे थे और संसार से पृथक् होकर यहीं पड़े रह गए। अन्यथा निग्रायड लोग भारत में प्रायः लुप्त ही हो गए और भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति पर इन्होंने कोई विशेष प्रभाव नहीं छोड़ा।

निग्रायड लोगों के बाद विद्वानों का मत है कि पश्चिम की ओर से फ़िलस्तीन से चलकर आस्ट्रेलायड लोग भारत में आये, जिनका कद मंझोला, सर लम्बा, नाक चपटी और त्वचा का रंग कुछ काला था। इनमें से कुछ लोग भारत से आगे बढ़कर आस्ट्रेलिया तक पहुंचे जहां उनके वंशज आज भी आस्ट्रेलिया के आदिवासियों के रूप में जीवित हैं। जो लोग भारत में रह गये, उन्हें आस्ट्रिक जाति का नाम दिया जाता है। उन्होंने भारत में ही अपनी भाषा और संस्कृति का विकास किया। फिर ये लोग भी भारत के बाहर पूर्व की ओर फैले। इनकी दो शाखाएं दिखाई देती हैं। पहली शाखा आस्ट्रोएशियाटिक शाखा कहलाती है जिसके प्रतिनिधि मध्यवर्ती भारत के कोल या मुंडा लोग, आसाम के खासी, बर्मा के मोन, कंबोडिया के ख्मेर और कोचिन चीन के चैम लोग हैं। इनके अतिरिक्त निकोबारी तथा बर्मा और वियतनाम की कुछ अन्य जातियां भी इसी शाखा से सम्बद्ध हैं। दूसरी शाखा आस्ट्रोनेशियन शाखा कहलाती है जिसके अन्तर्गत इण्डोनेशियाई या मलय जातियां, मेलानेशियन, माइक्रोनेशियन और पालिनेशियन जातियां आती हैं। इन सभी स्थानों में आस्ट्रिक लोगों का निग्रायड और काकेशायड जातियों के साथ मिश्रण हुआ है। प्राचीन भारत में ये आस्ट्रिक लोग निषाद और नाग के नाम से पुकारे जाते थे और ईसोत्तर काल में ये लोग कोल और भील के नाम से जाने जाते थे। इनका रंग काला था और ये सन्थाली, मुन्दरी, कुर्कु, गदबा और सबर तथा खासी और मोन ख्मेर से सम्बद्ध भाषाएं तथा इन्हीं दो जातियों की अन्य भाषाएं बोलते थे। आस्ट्रिक लोग सम्पूर्ण भारत में फैले हुए थे और भारत के निम्न वर्गों में मुख्य भाग इन्हीं का है। उत्तर भारत के विशाल मैदानों में ये लोग आर्य भाषा भाषी लोगों में आत्मसात् हो गए और इनके नाम तथा इनकी भाषा का

लोप हो गया। इन्होंने भारतीय सभ्यता को कई ऐसी भौतिक और आध्यात्मिक वस्तुएं दी हैं जिन्होंने उसकी बुनियाद डाली। उदाहरण के लिए लकड़ी के डंडे या खुरपी की खेती के द्वारा चावल और तरकारियां उपजाना, चिड़ियां पालना, हाथी को पालतू बनाना, रुई से कपड़ा बुनना इत्यादि कलाएं और मृत्यु के बाद दूसरे जीवन की कल्पना, जो कुछ अन्य तत्वों की सहायता से आगे चलकर पुनर्जन्म के सिद्धान्त के रूप में विकसित हुई, इन्हीं लोगों की देन है।

आस्ट्रिक लोगों के बाद भारत में मंगोलायड लोग दिखायी देते हैं जिनकी कई उपजातियां थीं। किन्तु सब में कुछ लक्षण समान रूप से पाये जाते हैं। आर्य लोग, जो इनके बाद आये, इन्हें किरात कहते थे। ये लोग भारत में पूर्व की ओर से ब्रह्मपुत्र नद और उसकी पूर्वी सहायक नदियों के किनारे किनारे तथा पूर्वी हिमालय को पार करके तिब्बत के रास्ते भी आये और नीचे की ओर मोहेंजोदड़ो तक फैले। इन्होंने आसाम, भूटान और नेपाल में बड़ी बड़ी बस्तियां बसायीं और पूर्वी तथा उत्तरी बंगाल, उत्तरी बिहार और हिमालय के दक्षिण के क्षेत्रों में कश्मीर तक सारे उत्तर भारत में बस गए। इन्हीं में से कुछ लोग और भी दक्षिण की ओर उड़ीसा और मध्य प्रदेश तक पहुंचे। मध्य प्रदेश में बस्तर के आदिवासी इसी जाति के हैं। भारत की सभ्यता में किरातों का भाग उत्तर तथा उत्तर-पूर्व के क्षेत्रों तक ही सीमित है, किन्तु इस क्षेत्र के लोगों के निर्माण में इनका महत्वपूर्ण भाग रहा है और इस प्रकार भारतीय सभ्यता के विकास में इनका एक प्रमुख भाग है।

इसके बाद द्राविड़ भाषा भाषी लोग पहले-पहल भारत में पूर्वी भूमध्य प्रदेश में स्थित एशिया माइनर से आये। ये लोग मुख्य रूप से मेडिटरेनियन अर्थात् भूमध्यसागरीय जाति के थे जिनमें आर्मेनायड जैसे कुछ अन्य जातीय तत्व भी मिल-जुल गए थे, जिनका मूल स्थान आर्मेनियां था और जो अल्पाइन जाति से सम्बद्ध थे। किन्तु ये सब एक भाषा के द्वारा एक सांस्कृतिक सूत्र में बंध गए थे। ये भूमध्यसागरीय प्राचीन द्राविड़ अपनी सभ्यता और धर्म को ३५०० ई० पू० में पहले-पहल भारत में ले आये। किन्तु भारत में आने के पहले इनके अनेक समुदाय इराक और ईरान में बस चुके थे। इनकी सभ्यता बहुत उन्नत थी और जिस प्रकार भारत की ग्राम्य संस्कृति कोल और मोन ख्मेर आदि आस्ट्रिक जातियों की सृष्टि है, उसी प्रकार भारत की नागरिक सभ्यता द्राविड़ों की महत्वपूर्ण देन है। आर्यों से पूर्व पंजाब और सिंध में हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के नगरों की सभ्यता का निर्माण करने वाले ये ही द्राविड़ लोग थे जिन्हें आर्य लोग दास तथा दस्यु और उसके बाद शूद्र कहकर पुकारते थे।

इनकी भाषा, धर्म और सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन अपनी विशेषता रखता था। बलूचिस्तान के ब्राह्वी लोग भी इसी द्राविड़ जाति के उस खंड के अवशेष हैं जो सिंध, दक्षिणी पंजाब और पूर्वी ईरान में बसा हुआ था।

द्राविड़ भाषा भाषी लोग सारे भारत में फैल गये थे और पंजाब से पूर्वी बंगाल तथा आसाम तक उत्तर भारत की बड़ी बड़ी नदियों की घाटियों में आस्ट्रिक भाषा भाषियों के साथ और हिमालय की तराइयों में मंगोलायड लोगों के साथ रहते थे। किन्तु इन लोगों की भाषा और संस्कृति को सारे मध्यवर्ती भारत और विन्ध्य पर्वत के पार दक्षिण भारत में अधिक महत्व प्राप्त हुआ। उनका यह कार्य ईसा से कई शताब्दी पूर्व ही सम्पन्न हो चुका था, यद्यपि ईसोत्तर काल में यहां भी द्राविड़ भाषा पर आर्य भाषा का प्रभुत्व स्थापित हो गया। सारे उत्तर भारत में अनेक स्थानों के नाम ऐसे मिलते हैं जिनका मूल द्राविड़, आस्ट्रिक और मंगोल भाषा में मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन भाषाओं को बोलने वाले किसी समय इस देश में रहते थे। किन्तु जहां तक भारतीय सभ्यता का प्रश्न है, द्राविड़ों का उसमें बहुत ही महत्वपूर्ण भाग है। भारतीय संस्कृति की बुनियाद में द्राविड़ों का भाग ५० प्रतिशत से अधिक ही है, यद्यपि उसकी अभिव्यंजना आर्य भाषा के माध्यम से होती है।

अन्त में आर्य लोगों का उदय भारत में हुआ। ये लोग इन्डोयूरोपियन भाषा बोलने वाले लोगों की इन्डोईरानियन नामक एक बड़ी शाखा के भाग थे। इन्डोयूरोपियन लोग २००० ईस्वी पूर्व से मध्य और पश्चिम एशिया तथा यूरोप में एक प्रबल शक्ति के रूप में उदित हुए। इनके विशिष्ट गुणों का निर्माण, विद्वानों के कथनानुसार, ईसा से लगभग ३००० वर्ष पहले यूराल पहाड़ से दक्षिण के प्रदेश में हुआ। इनकी इन्डोयूरोपियन भाषा ही वैदिक संस्कृत और प्राचीन ईरानी तथा यूनानी भाषाओं की जननी थी। इनके कुछ समुदाय पश्चिम की ओर गये और पोलैंड के प्रदेश में उन्होंने अपनी संस्कृति के दूसरे रूप का विकास किया जो सारे यूरोप में फैली। इन देशों में इन्डोयूरोपियन भाषा और सभ्यता, हित्ती, बाल्ट और स्लाव, केल्ट और जर्मन, इटालियन इलाइरियन और हेलिनीज़ तथा तुलारियन लोगों की भाषा और संस्कृति के रूप में परिवर्तित हो गई।

इन्डोयूरोपियन लोगों की दूसरी शाखा इन्डोईरानियन अर्थात् आर्यन लोग यूराल पर्वत के दक्षिण में स्थित अपने मूल स्थान को छोड़ कर, कुछ विद्वानों के अनुसार, मध्य एशिया में अथवा अन्य विद्वानों के अनुसार, काकेशस प्रदेश में से होते हुए और वहां से उत्तरी मैसोपोटामिया में चले गए। पहले मत के अनुसार मध्य एशिया के उस भाग में जो, ईरान के उत्तर पूर्व की ओर

पड़ता है, इन्डोयूरोपियन भाषा का आर्यन रूपान्तर हुआ और इसी मूल स्थान से आर्यन लोगों की ईरानी शाखा दक्षिण पश्चिम की ओर ईरान में फैली और इन्डोआर्यन अर्थात् भारतीय आर्यों की शाखा दक्षिण पूर्व की ओर भारत में फैली। दूसरे मत के अनुसार इन्डोयूरोपियन लोगों का आर्यन संस्करण पहले पहल मेसोपोटामिया में हुआ। यहीं पर उन्होंने आर्यन भाषा को विकसित किया जिससे ईरानी और इन्डोआर्यन, दोनों भाषाएं निकलीं। इस मत की पुष्टि में प्रमाण यह है कि मेसोपोटामिया और एशिया माइनर की खुदाई में ऐसे लेख मिले हैं जिनमें वेदों और अवेस्ता के पूर्व की आर्यन भाषा के नाम और शब्द पाये गए हैं। इस मत के अनुसार आर्यन लोगों के कुछ जन अर्थात् कबीले पूर्व की ओर बढ़कर ईरान में बस गए और दूसरे लोग पूर्वी ईरान होते हुए भारत में बढ़ आये जहां वे वैदिक आर्यों के रूप में उदित हुए।

मध्य पूर्व से आने वालों में आर्य लोग नार्डिक जाति के थे। किन्तु इनमें कुछ मंझोले कद और गोल सर वाले अल्पाइन लोग भी थे जिनका मूल स्थान यूरोप का आल्प्स पर्वत था और जिन्हें आर्य लोगों ने अपनी भाषा के द्वारा आत्मसात् कर लिया था, यद्यपि जहां तक रक्त या नस्ल का प्रश्न है, ये लोग बहुत कुछ अलग अलग दिखाई देते हैं। यही कारण है कि १५००ई०पू० के लगभग जो आर्य भाषी भारत में आये, उनमें स्पष्ट रूप से दो नस्लें दिखायी देती हैं। इनकी भाषा भारतीय संस्कृति के निर्माण का सबसे प्रबल साधन बनी। यही प्राचीन इन्डोआर्यन भाषा अर्थात् वैदिक भाषा थी जो आगे चलकर संस्कृत के रूप में सभ्य संसार की एक महानतम भाषा के रूप में अवतरित हुई और जिसमें प्राचीन भारत की मिश्र संस्कृति को अपना नैसर्गिक माध्यम प्राप्त हुआ।

इस प्रकार यदि हम निग्रायड भाषा तथा ऐसी ही अन्य भाषाओं को छोड़ दें जो संभवतः किसी समय में रही होंगी किन्तु बहुत दिन पहले ही लुप्त हो चुकी हैं, तो हमें चार भाषाएं और उनके माध्यम से व्यक्त होने वाली चार संस्कृतियां मिलती हैं जिन्होंने एक दूसरे के सम्पर्क, संघर्ष और समन्वय के द्वारा १५०० ई० पू० के लगभग प्राचीन भारतीयों अर्थात् हिन्दुओं का निर्माण किया। यही वैदिक या आर्य युग है जिसमें भारतीय मनुष्य की सृष्टि हुई। ये चार तत्व जिनके मिश्रण से उत्तर भारत में भारतीय मानव का निर्माण हुआ १. आस्ट्रिक या आस्ट्रोएशियाटिक, २. मंगोलायड या साइनोटिबेटन अर्थात् चीनी तिब्बती ३. द्राविड़ और ४. आर्य थे। इनके भारतीय नाम प्राचीन और अर्वाचीन काल में क्रम से १. निषाद या नाग, भील, कोल, २. किरात, ३. दास, दस्यु और शूद्र या द्राविड़ और ४. आर्य हैं। स्थूल दृष्टि से हम इन्हीं चार भाषा-संस्कृति समुदायों को जानते हैं जिन्हें चार जातियों का नाम

दिया जाता है। हम इस बात को दोहरा देना चाहते हैं कि संभवतः इस प्रकार के दूसरे भाषा-संस्कृति समुदाय भी रहे हों, जैसे निग्रायड समुदाय तो था ही।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार की ६ मुख्य नस्लों से ही भारतीय जातियों का निर्माण हुआ। इनमें से निग्रायड जाति के प्रतिनिधि भारतीय निग्रिटो, आस्ट्रेलायड जाति के प्रतिनिधि आस्ट्रिक या निषाद्, मंगोलायड जाति के प्रतिनिधि मंगोलायड या किरात, मेडिटरेनियन या भूमध्यसागरीय जाति के प्रतिनिधि द्राविड़, और नार्डिक जाति के प्रतिनिधि आर्य हैं। अल्पाइन जाति भी आर्यों और द्राविड़ों में मिलजुल गयी है और नीग्रो जाति अब भारत में लुप्तप्राय है। इस प्रकार संसार के ६ मुख्य जाति तत्वों का प्रतिनिधित्व भारत के चार मुख्य सांस्कृतिक समुदाय करते हैं।

२

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध

व्यक्तित्व के शारीरिक उपादान मनुष्य जाति के लम्बे विकास के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले वे स्थायी शारीरिक गुण हैं जो मनुष्य को उसकी परिस्थिति के अनुकूल बनाते हैं और जिनके कारण उसकी जीवन रक्षा होती है। इन गुणों में आहार, मल-विसर्जन, श्वास-प्रश्वास, खून का दौरा, आन्तरिक कोशों को घेरने वाले तरल पदार्थ तथा उष्मा का नियन्त्रण आदि क्रियाएं तथा ज्ञानवाहिनी और क्रियावाहिनी नाड़ियों और पेशियों का व्यापार सम्मिलित है जिसके द्वारा इन सब क्रियाओं में सामंजस्य और एकता स्थापित होती है।

इन शारीरिक क्रियाओं से सम्बद्ध कुछ प्रेरणाएं होती हैं जिनकी तृप्ति व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक होती है, जैसे भूख, कामवासना और शारीरिक रक्षा की आवश्यकता। इन से व्यक्ति और जाति की रक्षा होती है और व्यक्ति अपने विकास के क्रम में इनकी तृप्ति के लिए अनेक साधन ढूंढ लेता है। इतना ही नहीं, वह इनके क्षेत्र और स्वरूप को भी बहुत कुछ विस्तृत कर देता है। ये प्रेरणाएं इस अर्थ में अस्थिर होती हैं और व्यक्ति को अपने कर्मों तथा तृप्ति के साधनों को परिवर्तित और विस्तृत करने की शक्ति प्रदान करती हैं जिससे वह नई नई परिस्थितियों के अनुकूल बनने की शक्ति अर्थात् सीखने की शक्ति प्राप्त करता है।

मानव शरीर का स्थायी आधार जिस प्रकार वंश परम्परा पर निर्भर होता है, उसी प्रकार उसकी सीखने की शक्ति भी अधिकांश में जन्म-प्राप्त होती है। बुद्धि अथवा मानसिक शक्तियों के जन्म-प्राप्त होने का यही अर्थ है कि उसकी सीखने की शक्ति की सीमा निर्धारित है, साथ ही इस विषय में व्यक्तिगत अन्तर भी होता है, न केवल सीखने की शक्ति में वरन् प्रेरणाओं तथा उनकी तृप्तियों के रूप में भी।

इस जन्म-प्राप्त शारीरिक संस्थान का अन्य व्यक्तियों तथा सामाजिक संस्कृति से सन्बन्ध होने पर बच्चे का व्यक्तित्व उदित होता है। पहले तो

वह रक्षा के लिए माता पर आश्रित रहता है। उसकी यही आश्रितता उसके समाजीकरण का आधार बनती है। अपनी आयु के दूसरे वर्ष में वह भाषा सीखने लगता है और दूसरों के साथ उसका सम्बन्ध बढ़ने लगता है। धीरे-धीरे वह परिवार में कुछ कर्तव्य और अधिकार प्राप्त करता है और तदनुसार अभ्यास, आदर्श, मनोवृत्ति और चरित्र विकसित करता है। इसी पारिवारिक समूह में उसका सामाजिक व्यक्तित्व बनता है। धीरे-धीरे इन बाह्य कर्मों का अन्तरीकरण होता है जिससे व्यक्ति का मानसिक जीवन बनता है और वह बाह्य जीवन को प्रभावित करता है। व्यक्त रूप से विचार, भाषा के विकास के साथ चलते हुए दिखाई देते हैं और इस प्रकार मन, वचन तथा कर्म का त्रिक् उपस्थित हो जाता है जिसमें कर्म तो बाहर से दिखाई देता है, वचन को प्रेषित करना होता है और मन का इन दोनों से अनुमान किया जाता है।

समाज किसी प्रकार के सम्बन्ध या समानता से बंधे हुए व्यक्तियों को कहते हैं। समाज का आधार व्यक्तियों का पारस्परिक व्यवहार होता है अर्थात् किसी व्यक्ति की वह प्रवृत्ति जो बिना दूसरे के पूरी न हो। माता और सन्तति का सम्बन्ध मूलभूत सामाजिक व्यवहार है जिसकी बुनियाद पर व्यवहार के अन्य रूप प्रतिष्ठित होते हैं। इनमें तीन रूप सामान्यतः निर्दिष्ट किये जा सकते हैं: १. व्यक्ति का व्यक्ति से व्यवहार, २. व्यक्ति का समूह से व्यवहार और ३. समूह का समूह से अथवा उसके किसी प्रतिनिधि से व्यवहार।

व्यक्ति का समाज के साथ क्या सम्बन्ध है, इस विषय में महाभारत में एक मनोरंजक प्रकरण आया है। शान्ति पर्व में युधिष्ठिर द्वारा दंडनीति के विषय में प्रश्न किये जाने पर दंडनीति का महात्म्य बताते हुए भीष्म कहते हैं कि...

> कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा काल कारणम्।
> इति ते संशयो माऽभूद्राजा कालस्य कारणम्॥

इस प्रकार भीष्म ने इस शंका की उद्भावना की है कि काल राजा का कारण है या राजा काल का कारण और इस प्रश्न पर यह निर्णय किया है कि राजा ही काल का कारण है। काल के कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि, ये चार विभाग करके और युगों का निरूपण सामाजिक जीवन की मंजिलों अर्थात् विभिन्न दशाओं के रूप में करके यह दिखला दिया गया है कि इस प्रकरण में युग परिवर्तन का अर्थ सामाजिक परिवर्तन है और काल का अर्थ सामाजिक काल है। राजा का अर्थ भी स्पष्ट कर दिया गया है। दंड अर्थात् समाज के नियन्त्रण की शक्ति जिसे प्राप्त थी, वह राजा था। क्षत्रिय शब्द भी राजा का पर्यायवाची है क्योंकि समाज पर क्षत्रिय वर्ण का प्रभुत्व था अर्थात् राजा

का अर्थ नेता है। अस्तु, आधुनिक परिभाषा में प्रश्न यह है कि नेता द्वारा समाज निर्दिष्ट होता है या समाज द्वारा नेता ? व्यापक रूप में समस्या, इतिहास में व्यक्ति के स्थान की वही समस्या है जो अब तक विवादग्रस्त है और इस प्रश्न पर भीष्म का उत्तर व्यक्ति के पक्ष में है। इसका कारण वह यह बताते हैं कि राजा ही वर्ण रूपी सामाजिक वर्गों के कर्तव्यों और अधिकारों का नियन्त्रण करता है और इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था का नियन्ता होकर सामाजिक दशाओं अर्थात् युगों का प्रवर्तक होता है।

किन्तु इस प्रश्न का दूसरा पहलू भी है। इसमें तो सन्देह नहीं कि व्यक्तियों से ही समाज बनता है। अतएव किसी भी व्यक्ति के कार्यों का प्रभाव तो समाज पर अवश्य ही पड़ेगा। किन्तु क्या कोई भी व्यक्ति समाज से सर्वथा स्वतन्त्र है ? क्या उसकी इच्छाएं बाह्य परिस्थितियों से, विशेषकर सामाजिक परिस्थितियों से निर्दिष्ट नहीं होतीं ? जीवन की परिस्थितियां ही तो उसके कार्यों के लिए प्रयोजन प्रस्तुत करती हैं अर्थात् दिशा विशेष में उसे प्रेरित करती हैं और किसी उद्देश्य के प्रति उसकी गति निर्धारित करती हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

इस कथन से यही परिणाम निकलता है कि सामाजिक अवस्थाएं ही भगवान के लिए प्रयोजन प्रस्तुत करती हैं। कौरवों के अत्याचार और सैनिक-वाद के भार से पृथ्वी दबने लगी, तभी पांडवों ने उनसे युद्ध ठाना। अतएव सामाजिक परिस्थितियां व्यक्तियों के प्रयोजन निर्दिष्ट करती हैं। और तब युगप्रवर्तक महाभारत रोका भी नहीं जा सकता था। अर्थात् परिस्थितियां ही व्यक्ति के उद्देश्य प्राप्ति की सीमा या मात्रा भी निर्धारित करती हैं। अगर ऐसा न होता तो राजा युगों का क्रम वर्षों में क्यों न बदल सकता, कृतयुग के बाद एक दम कलियुग क्यों न ला सकता या त्रेता और द्वापर के बीच कृतयुग क्यों न ला सकता, अथवा उपयुक्त समय आने पर युग परिवर्तन को रोक क्यों न सकता तथा बिना उपयुक्त समय आये ही उसे प्रवर्तित क्यों न कर सकता ?

इसके अतिरिक्त हर व्यक्ति परिस्थिति के प्रभाव से, सामाजिक संस्कारों से ओतप्रोत रहता है। समाज में उसकी सारी शिक्षा दीक्षा होती है। उसकी भाषा और विचार उसके अनेक पुश्तों के सामाजिक विकास के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। वह अपने आसपास के अन्य व्यक्तियों की जीवन प्रणाली से प्रतिक्षण प्रभावित होता रहता है। इस प्रकार समाज उसे बनाता है। वस्तुतः व्यक्ति पुंजीभूत सामाजिक संस्कारों का एक केन्द्र बिन्दु है।

एक और बात ध्यान देने की है। सामाजिक व्यवस्था ही विशिष्ट व्यक्तियों

को महत्व प्रदान करती है। समाज ही उनका स्थान निर्धारित करता है। सामाजिक स्थितियां ही उन्हें विशेषता प्रदान करती हैं। यदि राजा के बिना वर्ण व्यवस्था और राज्य संचालन नहीं हो सकता तो वर्ण व्यवस्था के बिना राजा की कल्पना भी नहीं हो सकती क्योंकि राजा स्वयं ही एक वर्ण है...

राजा प्रजानां प्रथमं शरीरम्,
प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम्।
राजा विहीना न भवन्ति देशा,
देशा विहीना न नृपा भवन्ति ॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने विशिष्ट स्थान तथा कार्य के कारण महापुरुषों का महत्व समाज में अन्य साधारण जनों की अपेक्षा बहुत अधिक होता है, राजा या नेता होने के लिए कुछ व्यक्तिगत योग्यताओं की आवश्यकता होती है। कभी-कभी उनकी जरा सी सावधानी या असावधानी से बहुसंख्यक समाज का काम बन या बिगड़ सकता है। लेकिन उनकी शक्ति कितनी रह जाय यदि वह सामाजिक व्यवस्था न हो जिससे उन्हें हर प्रकार की सेवा और सहायता प्राप्त होती है? बिना इन सामाजिक सम्बन्धों के उनका कुछ महत्व नहीं रहता। इन बन्धनों की शक्ति ही उन्हें सशक्त बनाती है। बिना इस सामाजिक संगठन के ये समाज पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालने का अवसर और आधार ही खो बैठते हैं। सामाजिक जीवन में अपनी योग्यता के विकास और प्रयोग का अवसर न पाने के कारण कितने व्यक्तियों की प्रतिभा बेकार रह जाती है। सामाजिक व्यवस्था में अपने लिए कोई स्थान पा जाने पर यही लोग महापुरुष बन जाते। इससे स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के प्रस्फुटन में सामाजिक व्यवस्थाओं का बहुत प्रभाव है।

व्यक्ति का निर्माण समाज के अनुसार ही होता है। इसीलिए व्यक्ति को समाज से समझा जा सकता है न कि व्यक्ति से समाज को। राजा को उसके पूर्वकालीन सामाजिक व्यवस्थाओं के आधार पर समझना चाहिए न कि तत्कालीन समाज को राजा से। व्यक्ति पर समाज की प्रधानता है। इसी प्रकार समाज की अपेक्षा प्रकृति की प्रधानता है। जिस प्रकार व्यक्ति समाज का भाग है, समाज से व्याप्त है और समाज उसकी परिस्थिति है तथा उससे व्यापक है, उसी प्रकार समाज प्रकृति का भाग है, प्रकृति से व्याप्त है, और प्रकृति उसकी परिस्थिति है तथा उससे व्यापक है। इस प्रकार व्यक्ति, विशिष्ट रूप से समाज का तथा सामान्य रूप से प्रकृति का भाग है। समाज तथा प्रकृति, दोनों उसमें ओतप्रोत हैं और दोनों ही उसकी शक्ति पर शासन करते हैं। किन्तु विशेष रूप से वह समाज से प्रभावित होता है। समाज

में मिलकर वह प्रकृति का मुकाबला करता है। अकेले उसकी शक्ति इतनी नहीं है। इसलिए समाज, व्यक्ति और प्रकृति के बीच आ जाता है, उसका मध्यस्थ बन जाता है। समाज के द्वारा व्यक्ति और प्रकृति में शक्ति का आदान प्रदान होता है अर्थात् समाज में स्थित होकर व्यक्ति अपनी शक्ति लगाकर प्रकृति को इस प्रकार परिवर्तित करता है कि प्रकृति की शक्ति उसे प्राप्त होती है। इस प्रकार समाज में दैव और पुरुषकार का, तकदीर और तदबीर का समन्वय होता है। अकेले व्यक्ति के लिए तो प्रकृति दैव है, अजेय है, किन्तु जैसे-जैसे वह सामाजिक बन्धनों में बंधता जाता है, प्रकृति की शक्ति पर अधिकाधिक विजय प्राप्त करता जाता है और प्रकृति के स्थान पर समाज से नियन्त्रित होता है। इस प्रकार दैव और पुरुषकार की समस्या के दो विभाग हो जाते हैं, व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध तथा समाज और प्रकृति का सम्बन्ध। समाज अपनी विकास की मात्रा के अनुसार व्यक्ति को भी नियन्त्रित करता है और प्रकृति को भी।

संस्कृति का अर्थ अभ्यासों, विचारों, मनोवृत्तियों और आदर्शों का वह संगठित और स्थिर संस्थान है जो बच्चे को अपने गुरुजनों से प्राप्त होता है। इसमें हमारे अधिकांश विश्वास और रागद्वेष सम्मिलित होते हैं। व्यापक अर्थ में संस्कृति को भौतिक और आध्यात्मिक, दो भागों में बांटा जाता है। भौतिक संस्कृति को सभ्यता भी कहते हैं। इसमें मकान, यान, औजार, यन्त्रादि वह सारी भौतिक सामग्री है जिसका समाज ने निर्माण किया है।

आध्यात्मिक संस्कृति में ज्ञान, विश्वास, मनोवृत्ति और अभ्यास का ढांचा सम्मिलित है। किन्तु यह विभाजन सन्तोषप्रद नहीं है। विचारों और क्रियाओं से पृथक भौतिक पदार्थों का कोई स्वतन्त्र अर्थ और उपयोग नहीं होता। संस्कृति तत्वतः मानसिक है। कभी-कभी संस्कृति के ही अर्थ में सभ्यता शब्द का प्रयोग होता है। किन्तु अधिकतर सभ्यता शब्द का प्रयोग उन बड़े-बड़े समाजों की संस्कृति के लिए ही होता है जिनका एक विशाल आर्थिक तथा औद्योगिक संस्थान, संगठित राज्य, तथा कला, धर्म और ज्ञान सम्बन्धी विकसित संस्थाएं होती हैं, जैसे सिन्धु घाटी की सभ्यता, यूनानी सभ्यता आदि।

सांस्कृतिक ढांचे के अन्दर ही व्यक्ति सामाजिक व्यवहार सीखता है। कानून, नीति और स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम, जहां तक ये संस्कृति का भाग बन जाते हैं, वास्तव में वे आशाएं हैं जो समाज व्यक्ति से रखता है। कुछ सांस्कृतिक नियम ऐसे भी हैं जिनके पालन या अपालन तथा पालन विधि में व्यक्ति को स्वतन्त्रता होती है। ये नियम समाज की अनुमति रूप होते

हैं। कुछ विद्वानों ने सामाजिक नियमों के १. अनिवार्य या सामान्य, २. वैकल्पिक और ३. काम्य, ये तीन भेद किये हैं। भारतीय मीमांसकों ने भी कर्म के नित्य, नैमित्तिक और काम्य, ये तीन भेद बताये हैं। अनिवार्य कर्म, संस्कृति का वह केन्द्रीय अर्थ है जो कि व्यापक रूप से स्वीकृत होता है और सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक समझा जाता है, जैसे किसी देश की राजकीय पद्धति, आर्थिक पद्धति और अनिवार्य अर्थात् कानूनी विवाह पद्धति। वैकल्पित कर्म में वे कार्य आते हैं जिनमें व्यक्ति को कुछ अधिकार रहते हैं, जैसे विवाह के अनेक प्रकार या विवाह सम्बन्धी कर्मकांड। काम्य कर्म में व्यक्ति का वह विशेष कार्य आता है जो सामाजिक श्रम विभाजन में उसे प्राप्त हुआ है। इस पेशे से उत्पन्न होने वाला विशेष ज्ञान, विशेष कौशल, विशेष शब्दावली और विशेष आदर्श आदि उस पेशे की संस्कृति के अंग बन जाते हैं।

संस्कृति के उन अंशों को जो मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं से सम्बद्ध हैं, जैसे आहारेषणा या रचनात्मक वित्तेषणा, कामेषणा और आत्म रक्षा की प्रवृत्ति या रक्षात्मक वित्तेषणा तथा समूह भावना या लोकेषणा को कुछ विद्वानों ने सांस्कृतिक विधि कहा है। इनके बाद वे खेल, कला, धर्म आदि संस्थानों को गिनते हैं जो कि मूल एषणाओं के आधार पर विकसित होते हैं।

किन्तु व्यक्ति पर समाज का प्रभाव संस्कृति के द्वारा ही नहीं पड़ता। माता और सन्तति के सम्बन्ध, जो कि उनके परस्पर भिन्न भावों और स्थितियों के कारण उत्पन्न होते हैं, अनुशासन तथा स्नेह भावों को जन्म देते हैं। आगे चलकर ये भाव अभ्यस्त मनोवृत्तियों के रूप में विकसित होते हैं। लेकिन ये भाव जब तक निर्दिष्ट रूप में समाज स्वीकृत होकर पुश्त दर पुश्त न चलें, तब तक ये संस्कृति में समाविष्ट नहीं हो सकते। कुछ विद्वान सारे सामाजिक शिक्षण को सांस्कृतिक शिक्षण मानते हैं। इस अर्थ में पशुओं में भी संस्कृति माननी पड़ेगी। किन्तु संस्कृति का विशिष्ट अर्थ भाषा पर प्रतिष्ठित उन्नत मानसिक क्रियाएं तथा समाज स्वीकृत कर्तव्य होते हैं। इसी प्रकार पिता-पुत्र के सम्बन्ध या बच्चों के खेल के सम्बन्ध आदि संस्कृति से मूलतः स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार एक समाज के अनेक व्यक्तियों के भेद जन्मना प्राप्त और शारीरिक ही नहीं, सामाजिक और सांस्कृतिक भी होते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की सांस्कृतिक शिक्षा भी भिन्न-भिन्न होती है।

३

सम्पत्ति की कल्पना

सम्पत्ति की भावना मनुष्य में कैसे उत्पन्न हुई, इस सम्बन्ध में कई विचार उपस्थित किये गये हैं। कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य में अनेक स्वाभाविक प्रवृत्तियां हैं। उन्हीं में धनार्जन की प्रवृत्ति अर्थात् वित्तेषणा भी एक जन्मजात स्वाभाविक प्रवृत्ति है। एक दूसरा विचार यह है कि आदिम मनुष्य सब वस्तुओं को आत्मवत् देखता था और सब में व्यक्तित्व, चेतना और राग द्वेष का आरोप करता था। जड़ चेतन का भेद तो पीछे विकसित हुआ। जिस प्रकार वह अपने आत्मीय जनों के प्रति ममता के भावों से प्रभावित होता था, उसी प्रकार जिन वस्तुओं से वह निरन्तर सहायता पाता था, वे भी उसकी ममता की परिधि में आ जाती थीं। यही उसकी सम्पत्ति भावना का रूप था। कुछ लोग इससे मिलती-जुलती बात इस तरह कहते हैं कि मूलतः मनुष्य को अपने शरीर और व्यक्तित्व में अहंता या ममता होती है। इसी अभिनिवेश या आत्मकाम का विस्तार, शरीर से उत्पन्न होने वाली अथवा उसके द्वारा निर्मित होने वाली वस्तुओं में भी हो जाता है। यह सभी विचार भिन्न भिन्न लोगों की साम्पत्तिक संस्थाओं को प्रभावित करते हैं। किन्तु यह सारी कल्पनाएं उस मूल व्यावहारिक सम्बन्ध की व्याख्या मात्र हैं जो मनुष्य का अपनी परिस्थिति के साथ होता है। इस सक्रिय सम्बन्ध को जान लेने के बाद इन सब कल्पनाओं की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। मावरी जाति में सम्पत्ति के अधिकार उनकी व्यक्तित्व सम्बन्धी कल्पना पर आश्रित हैं। उनकी धारणा के अनुसार सब मनुष्यों में एक शक्ति होती है जिसे वे लोग 'माना' कहते हैं। यह शक्ति मुखिया में अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होती है। वह जिस चीज को छू लेता है या अपनी कह देता है, उस वस्तु में भी उस शक्ति का संक्रमण हो जाता है तथा उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो विधि निषेध अन्य व्यक्तियों के लिए लागू होते हैं, वे ही उस वस्तु के सम्बन्ध में भी लागू होते हैं। उस वस्तु को छूना आपत्तिजनक हो जाता है। यह विचार कुछ हल्के रूप में सभी अभिजात तन्त्रों में पाया जाता है जहां सम्पत्ति के अधिकार

वंशावली की दीर्घता के अनुसार सुरक्षित होते हैं। जूनी जाति में व्यक्तित्व सम्बन्धी ऐसी कोई कल्पना नहीं है। जो वस्तुएं उनकी सम्पत्ति होती हैं, उनके प्रति उनका भाव कुछ ऐसा होता है जैसे वे उन पर आश्रित हों या कम से कम उनसे पारस्परिक आदान प्रदान का सम्बन्ध रखते हैं। उनकी भाषा में कब्जा या अधिकार सूचक कोई शब्द नहीं है। जिस शब्द से वे स्वामित्व को व्यक्त करते हैं, उसका अर्थ होता है केवल 'साथ रहना' अर्थात् साहचर्य। उनके यहां विवाह का अर्थ होता है स्त्री पुरुष का साहचर्य, किसी समाज की सदस्यता का अर्थ होता है उस समाज के साथ रहना और वे लोग अपने खेत या मकान या अपने गहने के साथ रहते हैं। वे गोदामों में रखे हुए अनाज के सामने गीत गाते हैं जिससे वह अपने को उपेक्षित और अकेला न समझें। सम्पत्ति की यह कल्पना उनके विश्व दर्शन का ही एक अंश है क्योंकि वे जगत के प्रति भी ऐसा ही विनम्र और कृतज्ञ भाव रखते हैं। परिणामस्वरूप जिन वस्तुओं का वे उपयोग नहीं करते उन पर नियन्त्रण करने की चेष्टा नहीं करते। इसके विरुद्ध दोबुवन लोग भौतिक वस्तुओं के प्रति शासक का भाव रखते हैं। उनके बगीचों में जो कन्द मूल लगे रहते हैं, उन्हें वे मन्त्रों के द्वारा रोक रखते हैं जिससे वे लोग कहीं बाहर घूमने न चले जायं। उन पर नियन्त्रण रखना और दूसरे मनुष्यों के आक्रमण से उनकी रक्षा करना आवश्यक होता है। उनकी यह कल्पना आत्मवादी अवश्य है जिसके अनुसार आदिम मनुष्य जड़ चेतन सभी वस्तुओं में अपने समान आत्मा या व्यक्तित्व मानता है। किन्तु उनकी यह कल्पना मनुष्यों और वस्तुओं के सम्बन्ध के विषय में हमारी धारणा से मूलतः बहुत मिलती-जुलती है। हम लोग भी प्रकृति पर विजय प्राप्त करने और परिस्थिति को नियन्त्रित करने की बात करते हैं। हमारे लिए जीवन प्रकृति के साथ संघर्ष है और सम्पत्ति इस युद्ध में हाथ लगने वाली सामग्री है।

इन तीन आदिम जातियों के उदाहरण से हम सम्पत्ति के सम्बन्ध में तीन प्रकार की मनोवृत्तियां देखते हैं। जड़ सम्पत्ति में चेतनवत् व्यवहार तो इन तीनों में समान रूप से दिखाई देता है। किन्तु अपने समान व्यक्तियों को भी हम जिस प्रकार अपने से बड़े, बराबर और छोटे, इन तीन भागों में विभाजित करते हैं और तीनों के प्रति भय मिश्रित श्रद्धा, मैत्री तथा स्नेह या वात्सल्य के भिन्न-भिन्न भाव रखते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न लोग सम्पत्ति के प्रति भी यही भिन्न भाव रखते हैं। आगे चलकर जड़ और चेतन का भेद स्पष्ट हो जाता है। तब सभ्य मनुष्य सम्पत्ति के प्रति ममता रखते हुए भी उसके नियन्त्रण और संरक्षण का ही भाव रखता है क्योंकि सभ्यता के विकास में

प्रकृति पर पुरुष का प्रभुत्व उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है। पहले प्रकृति उसकी स्वामिनी थी; किन्तु अब वह प्रकृति का स्वामी हो गया है। इस परिवर्तन की मध्यावस्था में उसने प्रकृति के साथ कभी न कभी बराबरी का अनुभव किया ही होगा। इसी कारण ऐसा प्रतीत होता है कि यही तीन भाव सम्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मानव जातियों में दिखाई देते हैं। उनकी विकास की अवस्था को इस दृष्टि से देखा जाय तो यह भी बताया जा सकता है कि जो जातियां सम्पत्ति के प्रभुत्व को स्वीकार करती हैं वे विकास की सबसे निचली मंजिल पर हैं, जो सम्पत्ति से बराबरी का सम्बन्ध रखती है वे मध्यावस्था में हैं और जो सम्पत्ति पर अपना प्रभुत्व मानती हैं वे विकास की उन्नत अवस्था में हैं।

सम्पत्ति की भावना का आलम्बन जड़ या चेतन, मूर्त या अमूर्त, कोई भी वस्तु बन सकती है। वैसे तो सभ्यता की किसी अवस्था में मनुष्य को भी सम्पत्ति माना जाता था। प्रत्येक मानव सम्बन्ध का, जिसमें व्यक्ति और व्यक्ति के बीच महत्व का भेद होता है, आर्थिक पक्ष भी होता है, जैसे स्त्री पुरुष का सम्बन्ध इत्यादि। इसी प्रकार दासत्व का भी आर्थिक पक्ष है। किन्तु कानून की दृष्टि में चाहे दासों का जो भी स्थान रहा हो, समाज शास्त्र की दृष्टि से दासों को या स्त्रियों को सम्पत्ति मानना भ्रामक ही है क्योंकि वास्तव में दास प्रथा मानव सम्बन्धों की ही एक व्यवस्था का नाम है जिसमें मनुष्य पर मनुष्य का अत्यधिक नियन्त्रण होता है। किन्तु मनुष्य भौतिक वस्तु न होने के कारण किसी भी अवस्था में सम्पत्ति नहीं हो सकता। तो फिर सम्पत्ति तीन प्रकार की हो सकती है: १. प्राकृतिक वस्तुएं, जमीन, समुद्र और वे समस्त जीव-जन्तु, मछलियां तथा वनस्पतियां जो जमीन या समुद्र में पैदा होती हैं, २. मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुएं और ३. अमूर्त सम्पत्ति। सामान्यतः जमीन समुद्र जैसी प्राकृतिक वस्तुओं और अमूर्त वस्तुओं पर मनुष्य का अधिकार सीमित रहता है, विशेषकर हस्तान्तरण या परिवर्तन का अधिकार अथवा उन पर व्यक्तिगत एकाधिकार। अन्न या खाद्य सामग्री की स्थिति मध्यवर्ती होती है। कहीं तो वह बेचने खरीदने की वस्तु होती है और उस पर व्यक्ति का पूर्ण अधिकार होता है, जैसा हम लोगों में है। किन्तु अनेक आदिम जातियों में खाद्य सामग्री को प्रकृति का ही एक भाग माना जाता है और उस पर एक सीमा के भीतर ही स्वामित्व स्थापित किया जा सकता है। जूनी जाति के लोगों का विश्वास है कि यदि अतिथि सत्कार के नियमों का उल्लंघन किया जाय तो संचित अन्न उनके घर से भाग जायगा। वे लोग किसी कीमत पर खाद्य सामग्री को नहीं बेचते। खाद्य सामग्री के स्वामित्व की

सीमाएं अनेक प्रकार से निर्धारित होती हैं। प्रत्येक अतिथि को खाना खिलाने और जो कोई मांगे उसे खाना देने का नियम, या आवश्यकता के समय दूसरे को बांटने का नियम, अथवा एक खेमे या ग्राम के सारे व्यक्तियों के साथ पूर्णरूप से सामूहिक उपभोग का नियम इत्यादि खाद्य सम्बन्धी साम्पत्तिक अधिकारों की सीमाएं हैं।

कृत्रिम अथवा मनुष्य निर्मित वस्तुओं पर मनुष्यों का स्वामित्व अधिक पूर्ण होता है; किन्तु उसकी भी अनेक सीमाएं हैं, जैसे सम्बन्धियों का उपहार मांगने का अधिकार या समाज के अन्य व्यक्तियों का बिना मुआवजा दिये किसी की वस्तु का उपयोग करने का अधिकार इत्यादि।

अमूर्त सम्पत्ति से भी हम सभी परिचित हैं। हम जानते हैं कि किसी दूकान या व्यापारी के नाम की कीमत रुपयों में चुकायी जाती है। कहानी के शब्द, गीतों की ध्वनियां, वैज्ञानिक आविष्कार और लेखबद्ध ज्ञान का सर्वाधिकार सुरक्षित किया जाता है। अनेक आदिम जातियों में यन्त्रों और मन्त्रों के अधिकार के सम्बन्ध में बड़े झगड़े होते हैं।

अमूर्त सम्पत्ति वास्तव में एक प्रकार की सामाजिक सुविधा या सम्मान की बात है। ऐसी सुविधाएं बहुधा साम्पत्तिक अधिकारों का आधार बनती देखी जाती हैं। शक्ति का अर्थ होता है, दूसरों पर नियन्त्रण की क्षमता। मानव समाज में शक्ति के अनेक आधार होते हैं। शारीरिक बल, उम्र, जन्म, जाति, ज्येष्ठता, ज्ञान, प्रतिभा, तन्त्र-मन्त्र, कौशल या वीरता, ये सभी शक्ति के साधन हैं। इन साधनों से दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है या राजनीतिक अधिकार प्राप्त किये जा सकते हैं, और इस प्रभुत्व या अधिकार का उपयोग आर्थिक शोषण के लिए हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्मान और शक्ति, सम्पत्ति के साधन बन जाते हैं। दूसरी ओर सम्पत्ति भी सम्मान और शक्ति का साधन बनती दिखायी देती है। पूंजीवादी व्यवस्था में धन और सम्पत्ति ही सम्मान का आधार होती है और जिस प्रकार साम्राज्यवाद के द्वारा दूसरों का आर्थिक शोषण किया जा सकता है, उसी प्रकार पूंजीवाद के द्वारा दूसरों पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है।

सम्मान, शक्ति और सम्पत्ति के बीच यह परस्पराश्रय सम्बन्ध देखते हुए, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ये एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। यद्यपि ये एक दूसरे का साधन और प्रतीक बन सकते हैं किन्तु इनमें विरोध भी देखा जाता है और ये एक दूसरे को सीमित भी करते हैं। अनेक समाजों में जो सम्पत्ति को जितना ही लुटाता है, उतना ही सम्मानित होता है और जितना

संचित करता है, उतना ही निन्वित होता है। इसी प्रकार शक्ति चाहने वालों को बहुधा सम्पत्ति और सुख का त्याग करना पड़ता है। कुछ आदिम समाजों में मन्त्र शक्ति खतरनाक समझी जाती है।

प्राचीन भारत की समाज व्यवस्था में सम्मान, शक्ति और सम्पत्ति का पृथक् पृथक् विभाजन दिखायी देता है। भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक डा० भगवान दास के कथनानुसार, मनुष्य में १. आदर सम्मानेच्छा, २. विविध सम्पत्ति संग्रहेच्छा, ३. ऐश्वर्येच्छा अर्थात् अधिकार, आज्ञाशक्ति, ईश्वर भाव, ये तीन इच्छाएं अर्थात् इज्जत, दौलत, हुकूमत की इच्छाएं हैं। क्यों कि ज्ञान, क्रिया और इच्छा की प्रधानता से तीन प्रकृति के मनुष्य होते हैं : १. ज्ञान प्रधान ज्ञानी २. क्रिया प्रधान रक्षक—शासक, ३. इच्छा प्रधान पोषक—संग्रही। इनके भिन्न-भिन्न कर्त्तव्य और तोषण, भिन्न-भिन्न काम और दाम हैं—१. विद्योपजीवी विद्वान् के लिए ज्ञान संग्रह और ज्ञान प्रचार करके आदर सहित पुरस्कार लेना, २. क्रियोपजीवी रक्षक—शासक के लिए दूसरों की रक्षा करके राष्ट्र की ओर से जो मिले, वेतन लेना, ३. वार्तोपजीवी कृषक, गोपालक, व्यापारी के लिए अन्न-वस्त्र आदि जीवनोपयोगी पदार्थ उत्पन्न करना और विनिमय करना तथा इस व्यापार से जो लाभ हो, उसे लेना। ये तो इनकी जीविका और कर्त्तव्य हैं। इसी प्रकार इनके तोषण भी अलग-अलग हैं—विद्योपजीवी के लिए विशेष सम्मान, शासक के लिए विशेष अधिकार, पोषक के लिए विशेष धन सम्पत्ति।

मनुष्य की परिस्थिति का सबसे महत्वपूर्ण भाग अर्थात् उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति जमीन है। इसने मानव समाजों के आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन को जितनी गहराई से प्रभावित किया है, उतना किसी अन्य प्रकार की सम्पत्ति ने नहीं किया है। इसके सम्बन्ध में यह प्रश्न विशेष रूप से उपस्थित होता है कि भूमि पर मनुष्यों का स्वामित्व पहले सामूहिक रूप में स्थापित हुआ था या व्यक्तिगत रूप में। जब तक आदिम मनुष्य शिकार के द्वारा या मछली मार कर अथवा जंगली फल-मूल एकत्र करके जीवन निर्वाह करता था, तब तक उसने जमीन पर स्वामित्व प्राप्त करने की बात कभी नहीं सोची थी। वह जो कुछ अपने हाथ से ले लेता था या बना लेता था, उसके अतिरिक्त और किसी चीज को अपनी सम्पत्ति नहीं समझता था। पशुपालन की व्यवस्था में जमीन पर स्वामित्व की भावना अंकुरित होने लगती है। किन्तु वह जमीन के उस भाग तक ही सीमित रहती है, जिस पर कोई जन या कबीला अपने ढोरों को चराता है। इन चरागाहों की सीमाओं के सम्बन्ध में बहुधा झगड़े होते रहते हैं किन्तु यह विचार किसी के मन में नहीं आता कि कोई व्यक्ति अकेले

जमीन के किसी भाग का स्वामी होने का दावा करे क्योंकि पशुपालकों के जीवन की स्थिति इसके सर्वथा प्रतिकूल होती है।

धीरे-धीरे जमीन का एक भाग अस्थायी रूप से कृषि के लिए निकाल लिया गया और कृषक व्यवस्था की स्थापना हुई। किन्तु अब भी जितनी जमीन पर कबीला अधिकार रखता था, वह सब उसकी अविभाजित सम्पत्ति थी। कृषि योग्य भूमि, चरागाह और जंगल सभी का उपयोग सम्मिलित रूप से होता था। इसके बाद कृषि की भूमि को कई टुकड़ों में विभाजित करके परिवारों में बांट दिया जाता था। किन्तु उनका अपने-अपने टुकड़े पर केवल अस्थायी रूप से कब्जे का अधिकार होता था। भूमि पर वास्तविक स्वामित्व सारे कबीले का सम्मिलित रूप से होता था और वह समय-समय पर उसका पुनर्वितरण किया करता था। इसके बाद व्यक्तिगत सम्पत्ति की ओर एक नया कदम बढ़ा। जमीन के टुकड़े, एक मकान में रहने वाले और साथ-साथ काम करने वाले कुटुम्ब समुदायों के हाथ में रहने लगे। अन्त में व्यक्तिगत, पैतृक सम्पत्ति का उदय हुआ। किन्तु आरम्भ में इस पर भी अनेक बन्धन लगे हुए थे और एक लम्बे विकास के बाद ही वह निश्चित रूप से ऐकान्तिक निजी सम्पत्ति बनी जिससे आज हम कानून की परिभाषा में परिचित हैं। सर हेनरी मेन के कथनानुसार, जमीन की सामूहिक सम्पत्ति-व्यवस्था के भारत में समाप्त हो जाने का एक कारण यह है कि यूरोप की अपेक्षा भारत की ग्राम्य अर्थ व्यवस्था में चरागाहों का महत्त्व कम है, पशु कम रखे जाते हैं और खाद्य सामग्री के रूप में मांस का प्रयोग बहुत कम होता है। यूरोप की स्लाव और जर्मन जातियां पशुओं के बड़े-बड़े ढोर रखती थीं और उनकी बड़ी-बड़ी अविभाजित चरागाहें होती थीं। चरागाहों का यह सामूहिक उपयोग, कृषि की भूमि के निजी सम्पत्ति बन जाने के बाद, आज भी अनेक देशों में बना हुआ है और इसी के आधार पर ग्राम समष्टियों का निर्माण हुआ था।

४
जीविकोपार्जन के रूप

तमिल वाङ्मय में भौगोलिक आधार पर पांच प्रकार की जीविकाओं का उल्लेख है—१. जंगलों की मृगया २. समुद्र तथा झीलों के किनारों की मछली मारी ३. पहाड़ों की बागबानी अर्थात् प्रारम्भिक कृषि ४. चरागाहों और मरुस्थलों का व्रात्य पशुपालन और ५. मैदानों की खेती। कुछ विद्वानों ने वैदिक आर्यों के पंचजनाः अर्थात् पांच कबीलों तथा पंच कृष्टयः अर्थात् पांच प्रकार के कृषक और औद्योगिक समुदायों को भी 'आर्य' समाज के पांच विभागों के रूप में ग्रहण किया है। इससे पता चलता है कि प्राचीन काल से ही भिन्न-भिन्न भौगोलिक स्थितियों में जीविकोपार्जन के भिन्न-भिन्न रूप देखे जाते हैं।

संसार के आदिम मनुष्य, शिकार, मछलीमारी और जंगली फल-मूल के एकत्रीकरण के द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं और उन्नत समाजों में जीविका का साधन खेती या पशुपालन अथवा दोनों का मिश्रण होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के विकासक्रम में आखेट, मछलीमारी और फल-मूल के एकत्रीकरण की अवस्था पहली मंजिल है और कृषि तथा पशुपालन उसके बाद की मंजिल है। पहली अवस्था को एक शब्द में आखेट युग कहा जाता है। यह दूसरी बात है कि बहुतसी आदिम जातियां आज भी इसी अवस्था में पड़ी हुई हैं, किन्तु जो जातियां आज कृषि और पशुपालन करती हुई दिखायी देती हैं, वे भी पहले इस अवस्था से गुजर चुकी हैं, इसमें संदेह नहीं। पहली अवस्था एकत्रीकरण की अवस्था होती है। इसमें मनुष्य प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं को एकत्र करके ही खाद्य सामग्री बनाता है। वह अपने भोजन को उत्पन्न नहीं करता। जंगली फल-मूल या अनाज, मछलियों और पशुओं के उत्पादन में उसका कोई हाथ नहीं होता। जब वह पशुओं और अनाजों का स्वयं उत्पादन करने लगता है तब वह जीविकोपार्जन की दूसरी मंजिल में आ जाता है और पशुपालक तथा कृषक बन जाता है। इसीलिए पहली अवस्था को खाद्य सामग्री के एकत्रीकरण तथा दूसरी को उत्पादन की अवस्था कहते हैं। उत्पादन की अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि पशुपालन पहले होता है या कृषि।

कृषि दो प्रकार की होती है, एक खुरपी की खेती या बागबानी, जिसमें मनुष्य हाथ के औज़ारों से खेती करता है, दूसरी हल की खेती जो पालतू पशुओं की सहायता से होती है। स्पष्ट है कि पहली प्रकार की कृषि तो पशुपालन के पहले हो सकती है, किन्तु हल की खेती तब तक नहीं हो सकती जब तक कि पहले पशुपालन की कला का विकास न हो गया हो। इसीलिए हमें जीविकोपार्जन के तीन रूपों के स्थान पर विकास क्रम से चार रूप मानने पड़ते हैं अर्थात् शिकार, बागबानी, पशुपालन और खेती। शिकार के अन्दर कन्द-मूल-फल का एकत्रीकरण और मछलीमारी भी समाविष्ट हैं।

एकत्रीकरण की अवस्था में मनुष्य का जीवन प्रकृति पर आश्रित होता है और वह आकस्मिक प्राकृतिक परिवर्तन का शिकार बना रहता है। किन्तु जब वह उत्पादन की अवस्था में आता है और कृषि तथा पशुपालन के द्वारा अपनी खाद्य सामग्री को स्वयं उत्पन्न करने लगता है, तब उसका जीवन अधिक निश्चित हो जाता है और वह प्रकृति की दासता से मुक्त हो जाता है। जहां पहले वह परोपजीवी भोक्ता मात्र था, वहां अब वह आत्म निर्भर, कर्त्ता या स्रष्टा बन जाता है। उसके संगठन भी बड़े-बड़े होने लगते हैं। एकत्रीकरण की अवस्था में बहुत छोटे-छोटे समुदाय होते थे, क्योंकि उससे अधिक आबादी के लिए उस जीवन विधि में गुंजाइश नहीं थी। किन्तु उत्पादन की व्यवस्था बहुत बड़ी-बड़ी आबादियों का भरण-पोषण कर सकती है। वास्तव में प्रकृति के ऊपर इस बढ़े हुए प्रभुत्व के कारण ही उत्पादन को एकत्रीकरण से उन्नत अवस्था माना जाता है। प्रश्न यह होता है कि एकत्रीकरण से उत्पादन की अवस्था किस प्रकार विकसित हुई? इनके बीच की कड़ियां कौन सी हैं? वास्तव में प्राकृतिक शक्तियों पर मनुष्य की विजय उसी समय स्थापित हो जाती है जब वह खाद्य सामग्री का संचय करना सीख जाता है, क्योंकि इस प्रकार वह भुखमरी और अकाल से मरने से बच जाता है। संचय की प्रवृत्ति पशुओं में भी पायी जाती है जो प्रतिकूल ऋतुओं के लिए अपनी खाद्य सामग्री को संचित करते हैं। मनुष्यों में संचय की कला आरम्भ से ही देखी जाती है। आखेट जीवी और प्रारम्भिक कृषक उसके महत्त्व को अच्छी तरह समझते हैं। संचय के अतिरिक्त, बहुतसी वस्तुएं अपने प्राकृतिक रूप में खाने के योग्य नहीं होतीं, उनमें से उनका हानिकर अंश निकाल कर उन्हें खाने के योग्य बनाना भी उत्पादन की ओर प्रगति का एक कदम है। इसके लिए भी बड़े परिश्रम और अनुभव की आवश्यकता होती है।

इसी तरह जंगली फलों या अनाजों को बोने और लगाने से पहले मनुष्य उनके उगने के लिए अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न करता है। फलों की झाड़ियों

के आस-पास के जंगल जला दिए जाते हैं जिससे वे फल अच्छी तरह हो सकें। कुछ जातियों में स्त्रियां कन्द-मूल के आस-पास के पत्थर हटाकर उन्हें नियमित रूप से बढ़ने में सहायता पहुंचाती हैं। इन पत्थरों को वे अपने बगीचों के चारों ओर एकत्र करके तख्तों के सहारे दीवार-सी घेर देती हैं। ये बगीचे स्त्रियों की ही सम्पत्ति होते हैं। इनमें पेड़ लगाये तो नहीं जाते, किन्तु उनकी रक्षा की जाती है।

कृषि या बागबानी का आरम्भ सबसे पहले दक्षिण एशिया में केले की खेती से हुआ प्रतीत होता है। केले का पेड़ उसी की जड़ की एक पुत्ती को ज़मीन में गाड़ कर लगाया जाता है। इसके बाद बीज बोकर गेहूं आदि लगाने की कला का विकास अन्य देशों में स्वतंत्र रूप से हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि गेहूं, जौ और बाजरे की खेती पहले-पहल भारत और अफ़ग़ानिस्तान के आस-पास आरम्भ हुई क्योंकि इस क्षेत्र में इनके जंगली पौधे मिलते हैं। मध्य यूरोप में ये जंगली पौधे नहीं मिलते, इसलिए यद्यपि स्विट्ज़रलैंड की खुदाई में प्रागैतिहासिक काल के ये अनाज मिलते हैं, किन्तु इससे यही परिणाम निकलता है कि ये अनाज एशिया से ही वहां पहुँचे होंगे और वहां से यूरोप के आल्प्स पर्वत से होकर कोई न कोई व्यापार-मार्ग अवश्य रहा होगा। भारत और अफ़ग़ानिस्तान के क्षेत्र में गेहूं की खेती का आरम्भ मानने का सबसे बड़ा कारण यह है कि दुनियां के अन्य क्षेत्रों में गेहूं के जितने अलग-अलग भेद दिखायी देते हैं, वे सभी इस क्षेत्र में जंगली रूप में एकत्र मिलते हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि गेहूं का वितरण-केन्द्र यही क्षेत्र है।

प्रारम्भिक कृषि अर्थात् बागबानी की कला का आविष्कार स्त्रियों की देन है, जबकि हल की खेती पुरुष का कार्य है। शिकारी अवस्था में पुरुष जंगलों में पशुओं का शिकार करता था और स्त्री घर में रहकर बच्चों की देख-रेख करती थी और आस-पास के कन्दमूल-फल एकत्र करती थी। इसलिए यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि स्त्रियों ने ही पेड़-पौधों का अधिक अनुभव रखने के कारण पहले-पहल आकस्मिक रूप से गिरे हुए बीजों या पौधों के अंकुरों को उगते हुए देख कर बागबानी का आरम्भ किया हो और पुरुषों ने पशुओं की प्रवृत्ति का अध्ययन करते-करते पशुपालन का आविष्कार किया हो। आज भी अनेक आदिम जातियों में पुरुष और स्त्री में इस प्रकार का श्रम विभाजन बना हुआ है। उन्नत जातियों में इस विभाजन के कुछ अवशेष प्रतीकों के रूप में मिलते हैं। हिन्दू समाज में दशहरे के त्योहार पर लड़कियों का मिट्टी के लोंदे में जरई उगाने और उससे परिवार के पुरुषों को अलंकृत करने की प्रथा आदिकालीन वस्तुस्थिति का स्मरण कराती है। दूसरी ओर

हल की खेती पशुओं पर आश्रित होने के कारण सदा से पुरुषों का कार्य रही है।

प्रारम्भिक कृषि के साथ भी कुछ सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो लोग बराबर जगह बदलते रहते हैं, उनमें भूमि के स्वामित्व का कोई निश्चित रूप नहीं होता। ज़मीन दूसरे को नहीं दी जाती न उसका उत्तराधिकार चलता है। यह बात व्यक्तियों के लिए भी होती है और सारे समुदाय के लिए भी। अगर कोई बाहरी आदमी उस ज़मीन के निवासियों की अनुमति से उस ग्राम में बस जाय तो वह भी उस सम्मिलित भूमि को उन्हीं की तरह जोत-बो सकता है। वर्ष-दो-वर्ष तक किसी ग्राम के निवासियों का अधिकार किसी ज़मीन पर रह सकता था। किन्तु दूसरे लोग भी उस पर खेती कर सकते थे और निकाले नहीं जा सकते थे। ग्राम के निवासियों में कोई भी किसी ऐसी भूमि को ले सकता था जो किसी दूसरे के इस्तेमाल में न हो, और जिसके लिए दूसरों की अनुमति प्राप्त हो सके। यदि इस सम्बन्ध में कोई झगड़ा होता था तो मुखिया उसका फैसला कर देता था। किन्तु एक स्थान में स्थिर रूप से रहने वाली अनेक जातियों में, मुखिया प्रत्येक परिवार को ज़मीन बांटता है और इस प्रकार वह अन्य ग्राम वासियों का स्वामी बन जाता है। कहीं-कहीं अपने ग्राम के निवासियों को ज़मीन बांटने का अधिकार तो उसे नहीं होता, किन्तु दूसरी जातियों से आये हुए लोगों को वही ज़मीन देता है और उनका भाग्य विधाता बनकर धीरे-धीरे वह उनकी सहायता से अपनी जाति वालों का भी स्वामी बन जाता है और इस कार्य के लिए उसे किसी पड़ोसी समुदाय को जीतना भी नहीं पड़ता। इस प्रकार की सामन्तशाही कुछ आदिम जातियों में विकसित रूप में दिखायी देती है, जिनमें एक राजा सारी ज़मीन का मालिक होता है और मुखिया लोग उसके प्रतिनिधि होते हैं तथा साधारण जन उनका काम करने की शर्त पर उनसे ज़मीन लेते हैं। विशेष रूप से ये मकान बनाने और सैनिक सेवा का काम करते हैं।

अब पशुपालकों को देखिए। उनके घरेलू जानवर अपनी ही जाति के जंगली जानवरों से कुछ ऐसे भिन्न गुण रखते हैं जो उन्हें वंश परम्परा से प्राप्त होते हैं। घरेलू जानवरों का केवल पालतू जानवरों से भी एक भेद होता है। बहुत से पालतू जानवर पकड़कर काम में लगाये जा सकते हैं किन्तु बन्दी अवस्था में वे बच्चे नहीं पैदा करते। भारत, हिन्दचीन, लंका और जावा के हाथी बहुत से घरेलू कामों में लगाये जाते हैं। वे बोझ ढोते हैं और कहीं-कहीं हल भी खींचते हैं किन्तु वे बच्चे नहीं पैदा करते। और इसलिए जब कोई

नया हाथी पकड़ा जाता है तो उसे अलग से इन सब कामों को सिखाना पड़ता है। घोड़ों और बैलों के लिए ऐसा नहीं करना पड़ता, और ये मनुष्य के घर में रहकर भी बच्चे पैदा करते हैं। ऐसे जानवरों को पहचानने के लिए मनुष्य को हज़ारों वर्ष जानवरों का परीक्षण करना पड़ा होगा और आज से दो हज़ार वर्ष पहले जो जानवर मनुष्य के साथी बन गये थे, वे ही आज भी उसके घरेलू जानवर हैं। सबसे पहला जानवर जो आदमी का साथी बना, वह कुत्ता है। वह अन्य पशुओं का शिकार करने में और उन्हें पकड़ने में आदमी की सहायता करता है। कुछ जातियां कुत्तों का मांस भी खाती थीं। और कहीं-कहीं इससे गाड़ियां खींचने का भी काम लिया जाता है। इसके बाद अन्य जानवर भी धीरे-धीरे पालतू बनाए गए, जिनमें रेनडीयर, घोड़े, गधे, ऊँट, गाय, बैल, भेड़, बकरी आदि का विभिन्न सभ्यताओं में विशेष महत्त्व रहा है।

पशुपालकों की सम्पत्ति-लिप्सा के कई सामाजिक और राजनीतिक परिणाम होते हैं। कुछ लोगों के पास बहुत पशु हो जाते हैं और ग़रीब लोग केवल उनके पशुओं की देख-रेख करने वाले सेवक बन जाते हैं। इस प्रकार उनमें वर्ग भेद उत्पन्न हो जाता है, यद्यपि यह वर्ग भेद बहुत स्थिर नहीं होता क्योंकि पशुपालकों को अनेक खतरों का सामना करना पड़ता है और मौसम की कठोरता तथा शत्रुओं के मुकाबले में उनकी स्थिति सदा एक-सी नहीं रह पाती। फिर भी इनमें कभी-कभी पशुओं की सामन्तशाही उत्पन्न हो जाती है। एक राजा सारे पशुओं का मालिक हो जाता है और उसके प्रतिनिधि मुखियों को पशुओं की जायदादें मिलती हैं। राजा, पशुओं और चरागाहों को प्रजा में बांटता है और इस प्रकार सब का नियन्ता होता है। एक स्थान में क्षेत्रीय सरदारों को दस हज़ार पशु और उनके सेवकों को कई सौ पशु मिलते थे और उनसे छोटे सरदारों को दस-दस पशु तथा साधारण पशुपालकों को एक या दो पशु मिलते थे। पशुपालक लोग अपने पशुओं पर स्वामित्व सूचक चिह्न लगाते हैं। जैसे कुछ तुर्क जातियां अपने घोड़ों की जांघ को जला कर अंकित करती हैं और पश्चिमी किरगीज़ लोग अपने घोड़ों और भेड़ों के कान काट देते हैं।

गतिमान् (यायावर) पशुपालकों की आवश्यकताएं उन्हें स्थिर कृषकों के विरुद्ध संघर्ष के लिए विवश कर देती हैं। यह इतिहास का एक बड़ा विचित्र विरोध है। कृषकों की अपेक्षा पशुपालक अधिक संगठित और गतिशील होते हैं और इस लिए अपने आस-पास के कृषकों की पुरानी और स्थिर सभ्यताओं के मुकाबले में भी वे प्रायः विजयी होते हैं। चीन के उत्तर से आने वाले घुड़सवार तुर्क और मंगोल पशुपालकों के समूह लगभग १४०० ई० पू० से निरन्तर चीनियों को परेशान करते रहे। ये अशान्त समूह निरन्तर चीन की

सीमाओं को पार करके कृषकों के ग्रामों को लूटते-खसोटते रहे। चीन की बड़ी दीवार इनके आक्रमणों से सुरक्षित रहने के लिए ही बनायी गयी थी। इनकी गतिशील अश्वारोही सेना के मुकाबले में चीनियों की पैदल सेना ठहर नहीं पाती थी। अन्त में ३०७ ई० पू० में जब एक चीनी शासक ने तुर्क अश्वारोहियों की तीरन्दाजी और उनकी चुस्त पोशाक का अनुकरण किया, तब चीनी लोग इनके हमलों का जवाब देने लगे। फिर भी ये हमले बराबर होते रहे। १२१५ ई० में मंगोलों ने पीकिंग पर अधिकार कर लिया और चीन में एक नया राज्य वंश स्थापित किया। इसी प्रकार १६४४ ई० में मंचू लोगों ने उत्तर से आकर अपना साम्राज्य क़ायम किया। मंगोलों की विजय का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत था। चंगेज़ खां और उसके उत्तराधिकारियों के नेतृत्व में उन्होंने न केवल चीन को अपने अधीन किया, प्रत्युत फारस और रूस के अनेक भागों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इसी प्रकार अरब लोग भी एकाएक विश्व-इतिहास के मंच पर प्रकट हुए और उन्होंने बड़ी तेजी से उत्तरी अफ्रीका के विशाल क्षेत्रों और स्पेन तथा पुर्तगाल तक अपनी विजय पताका फहरायी। आज भी अरब के व्रात्य पशुपालकों की मनोवृत्ति वहां के स्थिर कृषकों के प्रति वैसी ही दिखायी देती है। बद्दू लोग समझते हैं कि उनके लिए भोजन प्रस्तुत करना कृषकों का कर्त्तव्य है और अगर वे अपनी इच्छा से ऐसा नहीं करते तो बद्दुओं को यह अधिकार है कि उनसे जो कुछ मिल सके, ले लें। अफ्रीका के मूल निवासियों में भी परस्पर इस प्रकार का सम्बन्ध दिखायी देता है। अनेक स्थानों में पशुपालकों ने कृषकों को पराजित करके अपने को ऊंची जाति और कृषकों को नीची जाति बना दिया है और उनसे कर तथा सेवा लिया करते हैं। जिस प्रकार कृषक लोग शिकारियों का जंगल काट कर कृषि के लिए ज़मीन निकाल लेते हैं और शिकारियों को इस तरह बेकार करके उन्हें अपनी प्रजा या दास बना लेते हैं, उसी प्रकार पशुपालक लोग कृषकों से पशु छीन कर और उनके खेतों को अपनी चरागाह बनाकर उन्हें बेकार कर देते हैं। और ऐसी स्थिति में या तो कृषक लोग अपने ग्रामों को छोड़कर किसी अन्य स्थान में भाग जाते हैं अथवा पशुपालकों के दास बन जाते हैं।

पशुपालकों के मुकाबले में कृषकों की हीनता का एक बड़ा कारण उनकी पार्थक्य भावना है जो कि उनकी आर्थिक और राजनीतिक जीवन प्रणाली का परिणाम है। पशुपालकों का जीवन सामूहिक होता है और अपनी एकता तथा संगठन के कारण वे लोग छोटे-छोटे समुदायों में विभाजित कृषकों को भेद नीति से फोड़ कर, बारी-बारी से एक-एक को जीत लेते हैं।

पशुपालकों की जीवन विधि का एक परिणाम यह भी बताया जाता है

कि उनमें स्त्रियों की स्थिति बहुत हीन हो जाती है। क्योंकि पशुपालन का आरम्भ करने वाले पुरुष थे और पशुपालक व्यवस्था में पशु ही मुख्य सम्पत्ति हैं, जिनसे स्त्रियों का कोई सम्बन्ध नहीं होता और उन्हें पशुओं का उत्तराधिकार भी नहीं प्राप्त होता। पुरुष का कोई दूर का सम्बन्धी उसके मरने पर उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है, किन्तु उसकी लड़कियां नहीं हो सकतीं। पशुपालन सम्बन्धी सारे मुख्य कार्य भी पुरुष ही करते हैं स्त्रियों के जिम्मे केवल छोटे-मोटे कार्य ही रहते हैं। इन्हीं कारणों से पशुपालकों का समाज प्रायः पितृमूलक होता है और मातृमूलक समाज प्रायः प्रारम्भिक कृषि या बागबानी की व्यवस्था में पाया जाता है जहां जीविकोपार्जन का मुख्य साधन स्त्रियों के हाथ में रहता है, और कुल का नाम तथा सम्पत्ति का उत्तराधिकार उन्हीं को प्राप्त होता है।

५

विकास की अवस्थाएं

समाज का सबसे पहला रूप एक प्रकार का कुटुम्ब ही था, यद्यपि वह संकुचित अर्थ में कुटुम्ब नहीं था, वरन् अनेक कुटुम्बों का समूह था। किन्तु उस पूरे समूह में यह भावना थी कि हम सब एक दूसरे के सम्बन्धी हैं, चाहे रक्त सम्बन्ध से अथवा विवाह सम्बन्ध से। और वह आदिम कुटुम्ब समूह या गोत्र इसी आत्मीयता की भावना पर प्रतिष्ठित था। आज भी संसार की कुछ आदिम जातियां इसी अवस्था में पड़ी हुई हैं। लंका के "वेद्दा" लोग इसी प्रकार के छोटे-छोटे कुटुम्ब समूहों में बिखरे हुए हैं, जो एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। यही मनुष्यों की प्राकृतिक अवस्था थी जिसमें उनका जीवन अल्पकालीन, पशुवत्, दरिद्र और असहाय था। धीरे-धीरे मनुष्य इस अवस्था से निकला, उसने अपनी आहार प्राप्ति के नये तरीकों और नये औज़ारों का आविष्कार किया और बड़े-बड़े गोत्र समूहों और जनों या कबीलों के रूप में संगठित हुआ तथा उसकी रीति नीति और धर्म का विकास हुआ। इस विकास के फल-स्वरूप हम लिखित इतिहास के आरम्भ में इन कबीलों को ग्राम में बसे हुए ग्राम समुदायों के रूप में देखते हैं।

ग्राम समुदाय भूमि के किसी विशेष खण्ड पर स्थायी रूप से बसी हुई मनुष्यों की आबादी है जो इस भूमि को सम्मिलित रूप से अपनी सम्पत्ति समझते हैं, किन्तु कृषि के लिए उसको परिवारों में विभाजित कर देते हैं। प्रत्येक परिवार का एक घर होता है और ज़मीन पर सबका सामूहिक स्वामित्व होता है। घूमते फिरते व्रात्य कबीले कभी कभी अंशतः व्रात्य और अंशतः शालीन होते हैं। ऐसा प्रायः उन समूहों में होता है जो कि अंशतः कृषि पर और अंशतः पशुपालन पर जीते हैं।

ग्राम समुदायों के अनेक रूप होते हैं, किन्तु इन सबमें कुछ गुण समान होते हैं और एक रूप से पाये जाते हैं। इनमें समाज की इकाई के रूप में परिवार का एक स्पष्ट रूप निश्चित हो जाता है। प्रत्येक परिवार के घर की दीवार उसे ग्राम के अन्य कुटुम्बियों से अलग कर देती है। प्रत्येक परिवार का घर उसके अधिकारों का आधार बन जाता है और उसे सार्वजनिक भूमि में

एक हिस्से का और सार्वजनिक जीवन में एक स्थान और सुरक्षा पाने तथा समूह के धार्मिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार होता है। गृहस्थ का घर और उसमें जलने वाली अग्नि परिवार की पवित्र सम्पत्ति होती है और उसका सामाजिक महत्व अत्यधिक होता है। इसी अग्नि के सम्मुख सारे धार्मिक कार्य और जन्म, विवाह तथा मृत्यु-पर्यन्त सारे संस्कार होते हैं।

व्यवस्था की दृष्टि से सब समुदायों के मुखिया मिलकर ग्राम सभा बनाते हैं। ग्राम समुदाय सर्वथा आत्मनिर्भर और स्वशासित समुदाय होता है। ग्राम सभा समुदाय के सहज धर्म का पालन कराती है। ग्राम समुदाय में शासन के सारे उपकरण बीज रूप में दिखायी देते हैं। आक्रमण और विजय तथा व्यापार के विस्तार के कारण वृहत्तर राजनीतिक संगठनों का जन्म हुआ जिनमें ग्राम समुदाय आंशिक रूप से एक सार्वभौम राजा के अधीन हो गये किन्तु उन्होंने अपनी स्वायत्तता नहीं छोड़ी और राज के कानून की अपेक्षा ग्राम समुदाय के लोकाचार को वे अधिक महत्व देते हैं।

इस प्रकार हमारे सामने ग्राम का चित्र अनेक घरों के एक समूह के रूप में उपस्थित होता है जिसकी जीविका का मुख्य साधन कृषि है, जिसका जीवन आत्मनिर्भर होते हुए भी सीमित और दरिद्र है। विकास की इस अवस्था में देश का चित्र इन्हीं ग्राम समुदायों से बनता है जो सारे देश में पृथक-पृथक बिखरे हुए हैं। इनकी स्वतंत्रता के लाभ की तुलना में इनके जीवन की कठिनाइयां, लोक परम्परा और लोकाचार की कूपमंडूकता, तथा ज्ञान और प्रतिस्पर्धा की कमी ही अधिक दिखायी देती है। प्रत्येक समुदाय दूसरों से प्रायः पृथक रहता है। उनमें अपनी-अपनी अतिरिक्त अथवा विशिष्ट वस्तुओं का विनिमय नहीं होता। यदि एक गांव में अधिक उपज हो तो ऐसी कोई पद्धति नहीं होती जिससे वह दूसरे गांवों की, जिनमें अनाज की कमी है, आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। उनमें कोई श्रम विभाजन नहीं होता, कोई नियमित बाजार नहीं होता। यत्र तत्र केवल आस-पास के गांवों में मौसमी मेले लगते हैं। बिक्री की वस्तुओं में नमक और कुछ धातुएं आदि बहुत थोड़े से पदार्थ ही बाजार में लाये जाते हैं। इस प्रकार के पार्थक्य से हानि और अपव्यय ही होता है और सहयोग से शक्ति का सदुपयोग और साधनों का सद्व्यय होता है। किसी समुदाय की आत्मनिर्भरता का क्षेत्र जितना ही छोटा होता है, उतनी ही वह आत्मनिर्भरता दरिद्र होती है और उतना उस समुदाय का जीवनस्तर नीचा होता है। यह सामाजिक विकास का एक मुख्य नियम है।

पार्थक्य के टूटने से ही प्रगति का रास्ता साफ हो जाता है, यह समाज के इतिहास में सदा देखा गया है। ग्राम समुदायों का पार्थक्य दो कारणों से

टूटा; एक तो नगरों के विकास से, जिनसे व्यापार और संस्कृति के रास्ते सारे देश में फैले, और दूसरे सारे देश के राज के अधीन एक राष्ट्रीय सूत्र में संगठित हो जाने से। प्रायः ये दोनों बातें साथ ही होती हैं। किन्तु कहीं कहीं नगरों का विकास राष्ट्रीयता के विकास से स्वतन्त्र और पहले ही दिखायी देता है जैसे यूनान और रोम में विशेष रूप से नगरों का विकास हुआ था।

सामन्त प्रथा का मूल तत्व भूस्वामित्व होता है। जनता में सामन्तों के प्रति अधीनता, स्वामिभक्ति, कर्तव्य और सम्मान की भावना बलवती होती है। किन्तु इस भावना का बाह्य आधार यह वास्तविकता होती है कि एक मनुष्य दूसरे से ज़मीन लेकर उसको अपना स्वामी बना लेता है और स्वयं उसका आसामी या अर्धदास बन जाता है। इस व्यवस्था में भूमि का स्वामित्व ही सारे अधिकारों की कसौटी होता है, जो कि ग्राम समष्टि के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है जिसमें भूमि का वितरण परिवारों में होता था और परिवार के मुखिया की हैसियत से ही लोग सारे अधिकार प्राप्त करते थे। सामन्त प्रथा में सहज नागरिकता का भाव लुप्त हो जाता है। राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकारों का सम्पत्ति की भाँति विनिमय और क्रय-विक्रय होने लगता है। नागरिक सम्बन्ध का स्थान एक प्रकार का व्यक्तिगत सम्बन्ध ले लेता है और इस सम्बन्ध का आधार व्यक्तित्व नहीं होता है वरन् सम्पत्ति होती है।

इसलिए सामन्त व्यवस्था सोपानवत् होती है, इसमें क्रमिक रूप से, एक के ऊपर एक, अनेक स्तर होते हैं। और सबसे ऊपर राजा होता है जो सारे देश का स्वामी होता है। नीचे के अधिकारी ऊपर वालों की सेवा की शर्त पर अपनी सम्पत्ति के स्वामी होते हैं। किन्तु सबसे बड़ा भेद भूस्वामी और किसान अथवा रईस और रजील के बीच होता है जिन्हें राजा और प्रजा भी कहा जाता है। इन दोनों वर्गों में अनेक स्तर होते हैं, भूस्वामियों में राजा, नवाब, तालुकदार, जागीरदार, ज़मींदार आदि। और कृषकों में स्वतन्त्र किसान और अर्धदास आदि।

सामन्त व्यवस्था सैनिक व्यवस्था भी होती है। सामन्त अपने राजा को और सेवक अपने स्वामी को मुख्य रूप से सैनिक सेवा ही अर्पित करता है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने निकटतम स्वामी के प्रति ही ज़िम्मेदार होता है। व्यक्ति और सर्वोच्च अधिकारी के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। सामन्त राज में एकता नहीं होती। सत्ता का अर्थ भूस्वामित्व होता है और प्रत्येक सामन्त अपनी जागीरदारी में एक मात्रा में उसी प्रकार शासन करता है जिस तरह राजा अपने सारे राज्य में। इस प्रकार अधिकार अनेक मात्राओं में वितरित होता है। प्रत्येक सामन्त के अपने अपने क्षेत्रीय अधिकार होते थे, वे अलग

अलग कर लगाते थे। उनके अपने अपने सिक्के चलते थे। यहाँ तक कि वे स्वतन्त्र रूप से युद्ध भी किया करते थे। प्रत्येक सामन्त अपने अपने क्षेत्र में नाना प्रकार के बन्धन, टोल और जुर्माने लगाता था और व्यक्तिगत सेवाएँ लेता था। राजनीतिक दृष्टि से ऐसी विशृंखल व्यवस्था बहुत दिनों तक चलती रही, उसका यही कारण था कि देश की एक संस्कृति और एक धर्म था। जब राजा की शक्ति का धर्म से पार्थक्य हुआ और दोनों का संघर्ष बढ़ा, तब सामन्त व्यवस्था का अन्त अवश्यंभावी हो गया।

सामन्त व्यवस्था में ही नगरों का विकास हुआ जिसमें उनके विनाश का बीज आरंभ से ही छिपा हुआ था, क्योंकि नगरों का स्वरूप सामन्त व्यवस्था के मूल सिद्धान्त के ही विरुद्ध होता है, और उससे स्वतन्त्र होने के लिए वे सदा प्रवृत्त रहते हैं। सामन्त व्यवस्था स्वरूपतः ग्रामों की व्यवस्था है। वह शहरों में जीवित नहीं रह सकती थी।

आरम्भ में नगर एक प्रकार के बड़े गांव ही थे जिनका रूप विकसित जीवन की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक आवश्यकताओं से बदल गया था। कुछ विशेष स्थितियां मनुष्यों को किसी विशेष स्थान पर एकत्र करती हैं जैसे नदी का घाट, बन्दरगाह, व्यापार मार्गों का संगम और प्राकृतिक रूप से सुरक्षित स्थान आदि। राजनीतिक और आर्थिक कारण स्वभावतः मिल जाते हैं। सुरक्षित स्थान में व्यापारी एकत्र होते हैं और व्यापार-केन्द्र को राज की ओर से सुरक्षित बनाया जाता है और वहीं शासन का केन्द्र भी स्थापित हो जाता है। इस प्रकार से जिन स्थानों में राजनीतिक और आर्थिक सुविधाएं एकत्र हो जाती हैं वहीं बड़े बड़े शहर बस जाते हैं। भारत के अधिकांश नगरों का निर्माण इसी प्रकार से हुआ। किन्तु भारत के सबसे बड़े और प्रसिद्ध नगरों का विकास उन स्थानों से हुआ जहां कभी शक्तिशाली हिन्दू अथवा मुसलमान बादशाहों के शिविर स्थापित हो जाते थे। सारे साम्राज्य की धन सम्पत्ति ऐसे स्थानों में एकत्र हो जाती थी जिससे वे कुशल कारीगरों और कलाकारों के केन्द्र बन जाते थे। जितने अच्छे कारीगर होते थे, अपने उपकरणों के साथ इन राजधानियों में आ जाते थे। यही कारण है कि ये राजधानियां इतनी समृद्ध हो गयी थीं। साथ ही साथ जब कोई राजा कोई दूसरी राजधानी बना लेता था, तब पुरानी राजधानियां वीरान हो जाती थीं। कभी कभी ऐसा भी होता था कि कोई कारीगरी उस स्थान में इतनी जड़ जमा लेती थी कि राजधानी के स्थानान्तरित हो जाने के बाद भी उस कारीगरी से सम्बद्ध आबादी उस स्थान में बनी रह जाती थी और वह नगर बना रह जाता था। ऐसे नगरों के आस-पास कुछ उपनगर भी विकसित हो जाते थे। इनके अतिरिक्त कुछ गांव अन्य

कारणों से महत्व प्राप्त कर लेते थे, जिनमें से कुछ तो तीर्थ स्थानों के कारण महत्वपूर्ण हो गये थे। भारत के नगरों का विकास इन्हीं कारणों से हुआ।

जब नगरों की वृद्धि हुई, तो वे सामन्तों की सत्ता को चुनौती देने लगे। कुछ सामन्ती क्षेत्रों में, जैसे उत्तरी फ्रान्स में अनेक नगर उद्योग और व्यापार के द्वारा इतने समृद्ध हो गये और आर्थिक तथा राजनीतिक संघों के निर्माण से उनकी शक्ति इतनी बढ़ी कि वे अपनी स्वतन्त्रता के लिये प्रबल संघर्ष करने लगे और एक बड़ी मात्रा में स्वतन्त्र हो भी गये। कई नगरों ने सामन्तों का सफलतापूर्वक विरोध भी किया और उनके सारे सार्वजनिक अधिकार छीन लिए। नागरिकता और क्षेत्रीय शासन का जाति भेद, ये दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते थे। व्यापार जनित सम्पर्क और कार्य सामन्ती प्रतिबन्धों के प्रति विरोध की भावना उत्पन्न करते हैं। नगरों में व्यापारियों और उनके बाद कारीगरों के जो संघ बने, उन्होंने सामन्त व्यवस्था के उन्मूलन में विशेष रूप से काम किया। उनके द्वारा राजनीतिक और आर्थिक शक्ति का नये रूपों से उदय हुआ जो भूमि के स्वामित्व पर आधृत नहीं थे। इन संघों ने राजाओं, सामन्तों और धर्माचार्यों से धीरे-धीरे स्वतन्त्रता के अधिकार प्राप्त किये। इंग्लैण्ड में ११वीं शताब्दी के अन्त में हम इस प्रकार के अनेक व्यापार नियमों को देखते हैं। सामन्त लोग अपने अधिकारों को धन के बदले में छोड़ रहे थे। धीरे-धीरे इसी विनिमय के द्वारा सामन्ततन्त्र से जनतन्त्र का विकास हुआ। इन नियमों ने अपने सदस्यों को सामन्तों के अनेक करों और उनकी व्यक्तिगत सेवाओं से मुक्त कर दिया। वे स्वतन्त्र नागरिकों के ऐसे संगठन बन गये जो व्यापार के विस्तार और आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्धों के विस्तार में विश्वास रखते थे। इसमें सन्देह नहीं कि ये व्यापार निगम भी आगे चल कर संकुचित और अधिकारवादी हो गये और कारीगरों के नये संगठनों को और अन्त में राष्ट्रीय सरकारों को उनकी ज्यादतियों का विरोध करके उनकी सत्ता को समाप्त करना पड़ा। किन्तु बीच के समय में व्यापार संघों में उन सम्बन्ध सूत्रों के निर्माण में बहुत बड़ा काम किया जिनके द्वारा किसी देश के अनेक स्वतन्त्र समुदाय एक राष्ट्र के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

जब शहरों में इस नयी सामन्त विरोधी सभ्यता का उदय हुआ, तब धीरे धीरे इनका प्रभाव ग्राम्य जीवन में भी पहुँचने लगा। स्वतन्त्रता की भावना ने, जो नगरों में कभी लुप्त नहीं हुई थी, धीरे-धीरे कृषकों की दासता का भी अन्त कर दिया और ग्रामवासियों के झोंपड़ों में उसने एक नयी अग्नि प्रज्वलित कर दी।

दासों के श्रम का स्वतन्त्र नागरिकों के श्रम में रूपान्तर, समाज के

आर्थिक और राजनीतिक विकास में एक बड़ा कदम है। इससे एक ओर आधुनिक औद्योगीकरण और दूसरी ओर सर्व संग्राहक आधुनिक राष्ट्र की स्थापना हुई। जमीन की जोत के आधार पर बने हुये सामाजिक संगठन को तोड़ कर इसने मजदूरी के इकरारनामे के आधार पर अधिक गतिशील सम्बन्धों की स्थापना की और इस प्रकार नयी उत्पादन विधियों और आर्थिक शक्ति के नये केन्द्रों का रास्ता साफ किया। न्यायालयों ने यह व्यवस्था दी कि कोई सामन्त अपने दासों के शरीर और सामग्री पर अपनी सम्पत्ति की तरह अधिकार नहीं रख सकता। और इसी प्रकार उन सामन्ती क्षेत्रों में भी सामान्य कानून का प्रवेश हुआ जो शताब्दियों से इस के प्रभाव से मुक्त हो चुके थे। अब कानून के सामने, कम से कम नाम के लिए, सब लोग बराबर हो गये और सब के लिये एक कानून हो गया। कृषकों की नाम मात्र की स्वतन्त्रता भी उनके भविष्य की ओर निर्देश करती है। कम से कम सैद्धान्तिक और नैतिक रूप में तो वह स्वीकृति हो ही चुकी है।

आज दूसरे प्रकार के भेद और संघर्ष तथा दमन और अत्याचार आरंभ हुए हैं जो कि पुराने द्वन्द्वों और शोषणों से कम कष्टदायक नहीं हैं। किन्तु सामन्त व्यवस्था की समाप्ति से एक नये युग का आरंभ हुआ है जिसने राजनीतिक समानता की भावना का पुनःस्थापन किया और एक नये समुदाय को जन्म दिया जिसने विज्ञान के द्वारा प्रकृति पर मनुष्य के प्रभाव-क्षेत्र को विस्तृत किया और इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय समुदाय की स्थापना हुई जो कि आज तक के सामाजिक विकास की अन्तिम अवस्था है।

६

विवाह की पद्धतियां—भारत और अन्य समाजों में

विवाह का अर्थ विशेष रूप से पत्नी या पति प्राप्त करने की पद्धति होता है। इस अर्थ में विवाह के कई प्रकार दिखाई देते हैं, जैसे अपहरण विवाह, विनिमय विवाह, सेवा विवाह, क्रय विवाह, दहेज विवाह, प्रेम विवाह इत्यादि।

अनेक समाज वैज्ञानिकों के कथनानुसार विवाह का आरम्भ अपहरण से ही होता है। उनका कहना है कि विवाह का मूलरूप पुरुष द्वारा स्त्री का अपहरण ही है। सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में स्त्री की कीमत उसके काम के लिए थी और व्यापार का आरम्भ नहीं हुआ था जिससे रुपए के रूप में धन की उत्पत्ति हो। ऐसी स्थिति में स्त्रियों का अपहरण करके उन पर स्वामित्व स्थापित करना अत्यन्त स्वाभाविक बात थी। इसके अतिरिक्त मनुष्य की कामेषणा स्वभावतः बहिर्गामी होती है और वह विजातीय स्त्रियों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होता है। उसकी यह इच्छा उस आदिम काल में बलात् अपहरण के द्वारा ही पूरी हो सकती थी क्योंकि उस समय मनुष्यों के विभिन्न जन या कबीले एक दूसरे के लिए विजातीय और शत्रुवत् थे। उनमें लूट के लिए युद्ध हुआ करते थे और दासी स्त्रियां सबसे मूल्यवान और आवश्यक सम्पत्ति थीं। इस प्रकार का अपहरण आदिम मनुष्यों में अवश्य ही बहुत प्रचलित रहा होगा। कैरिब लोग लड़ाई में जीतने पर विजित पुरुषों को मार डालते थे और स्त्रियों को हर ले जाते थे और उनसे विवाह कर लेते थे जिसके परिणामस्वरूप पुरुषों और स्त्रियों की भाषा भिन्न होती थी। सिडनी के आस-पास निवास करने वाले आस्ट्रेलियन लोग अपने पड़ोस में रहने वाली अन्य जातियों से स्त्रियां लेना अधिक पसन्द करते हैं और उनका अपहरण अत्यन्त हिंसापूर्ण होता है। बेचारी लड़की को डंडे मार कर स्तब्ध कर दिया जाता है और घसीट कर ले जाया जाता है। उसके सम्बन्धी इस आक्रमण का जवाब प्रायः उस समय तो नहीं देते किन्तु यथा शीघ्र अवसर मिलने पर वैसा ही प्रत्याक्रमण करके अपनी क्षति की पूर्ति करते

हैं। इन लोगों में यह रिवाज इतना प्रचलित है कि बच्चे भी अपने खेल में इसकी नकल करते हैं। पालिनेशिया में स्त्रीहरण सम्बन्धी युद्ध इतने भीषण होते हैं कि लड़की बहुधा क्षत-विक्षत हो जाती है और कभी-कभी उसकी मृत्यु भी हो जाती है। स्कैंण्डिनेविया के प्राचीन लोकगीतों में शत्रु की वधू पत्नी या लड़की को लूट लाने और उससे विवाह करने का नियमित तरीका दिखाई देता है। यूनानी भाषा में पत्नी के लिए "वमर" शब्द का प्रयोग होता है जिसका अर्थ है युद्ध बन्दी या दासी। यूरोप के दक्षिण स्लाव लोगों में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ काल तक स्त्रीहरण हुआ करता था, यद्यपि उसके लिए बहुत कठोर दंड दिया जाता था, किन्तु यह दंड उसी अवस्था में दिया जा सकता था जब कि लुटेरा पकड़ा जा सके और भिन्न भिन्न जातियों में इसके कारण निरन्तर युद्ध होते रहते थे।

भारतवर्ष में मनुस्मृति के अनुसार आठ प्रकार के विवाह थे—ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, गांधर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच। परन्तु आर्ष और देव, ब्राह्म में ही सम्मिलित हो जाते हैं और प्राजापत्य के बदले क्षात्र विवाह प्रथा ही रही। पैशाच, बलात्कार का ही दूसरा नाम है जिसे कुछ नीतिकार, स्त्रियों और बच्चों को अवैधता के शाप से बचाने के लिए विवाहों में समाविष्ट कर लेते हैं। किन्तु अन्य नीतिकार इसे विवाहों में नहीं गिनते। इस लिए महाभारत के अनुशासन पर्व के अनुसार विवाह के मुख्य भेद पांच ही समझने चाहिएं—ब्राह्म, क्षात्र, गांधर्व, आसुर और राक्षस। इनमें राक्षस विवाह अपहरण का ही एक दूसरा नाम है। राक्षस विवाह राक्षसों में ही होता था। इसमें कन्या पक्ष वालों से लड़कर प्रतिपक्षी को रोते-पीटते छोड़ कर, विलाप करती हुई कन्या को बलात् ले आते थे। हिन्दुस्तान की मूल निवासी जातियां, जो लंका तक फैली हुई थीं, उन्हीं को राक्षस कहा गया है। रावण कृत सीता हरण से यह बात स्पष्ट होती है। इस प्रकार का विवाह क्षत्रियों को बहुत भाता होगा क्योंकि वही लोग अपने सामर्थ्य का प्रयोग करते थे जो युद्ध विद्या में निपुण होते थे। महाभारत में इसका प्रसिद्ध उदाहरण सुभद्रा-हरण है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण की सलाह से सुभद्रा का हरण किया। इसमें किसी जगह सुभद्रा के अनुमोदन का अंश नहीं था। उस समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"क्षत्रिय स्वयंवर विधि से विवाह करें यह उत्तम है। परन्तु स्वयंवर किया जाय तो न जाने सुभद्रा किसके गले में जयमाला डाल देगी। अतएव शूर पक्ष में स्त्री का बलपूर्वक हर ले जाना उत्तम है।" सारांश यह कि राक्षस विवाह को क्षत्रिय लोग खूब पसन्द करते थे। महाभारत के वन पर्व में, जयद्रथ ने द्रौपदी का हरण किया। इससे स्पष्ट

है कि कुछ लोग विवाहिता स्त्री को भी जबरदस्ती पकड़ ले जाते थे। परन्तु उसके आप्त बन्धुओं को जीतने की आवश्यकता होती थी। धौम्य ऋषि ने जयद्रथ से कहा कि "महारथी पांडवों को जीते बिना तुम द्रौपदी को नहीं ले जा सकते। पुरातन काल से क्षत्रियों का धर्म जो चला आ रहा है, उस पर ध्यान दो।" इससे प्रतीत होता है कि क्षत्रियों का पुरातन काल से प्रचलित धर्म यह रहा होगा कि दूसरे क्षत्रियों को जीतकर उनकी विवाहिता स्त्री हरण की जा सकती है। कुछ ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि महाभारत के अन्त में राजाओं की स्त्रियां विजेता राजाओं के घर दासी की भाँति काम में लायी जाती थीं। स्मृतियों में उल्लेख है कि राक्षस विवाह क्षत्रियों के लिए विशेष रूप से योग्य है। आजकल भी क्षत्रियों में और नीचे वाली जातियों में राक्षस विवाह का थोड़ा बहुत अवशिष्ट अंश देख पड़ता है। विवाह के अवसर पर दूल्हा के हाथ में कटार या छुरी रखने की रीति इन जातियों में प्रचलित है।

अपहरण अर्थात् राक्षस विवाह का पहला विकास भारत में क्षात्र विवाह के रूप में हुआ। क्षात्र विवाह बहुधा क्षत्रियों में होता था, परन्तु इसे ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों के लिए विहित बतलाया गया है। क्षात्र विवाह विशेष रूप से उसी को कहते थे जिसमें लड़की का पिता कहे कि जो क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण अमुक बाजी को जीत लेगा अथवा अमुक शक्ति अथवा वीरता का प्रदर्शन करेगा, उसी से लड़की विवाहित होगी। इस विवाह को यद्यपि स्वयंवर कहा गया है, किन्तु वास्तव में यह स्वयंवर नहीं था, क्योंकि कन्या को विवाह के समय किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी। बहुधा लड़की का पिता ही बाजी लगाता था और जो कोई बाजी जीत लेता था, उसी के साथ कन्या का विवाह कर दिया जाता था। इसलिए इस विवाह को न तो स्वयंवर कहा जा सकता है और न गांधर्व विवाह ही।

विनिमय विवाह और सेवा विवाह भी अत्यन्त आदिम अवस्था में प्रचलित दिखाई देते हैं। वास्तव में ऐसी कोई सभ्यता कभी नहीं रही जिसमें अपहरण ही विवाह की एकमात्र पद्धति रही हो। विजातियों में परस्पर विनिमय विवाह, अपहरण विवाह का दूसरा क़दम है। आस्ट्रेलियन नीग्रो लोगों में वर वधू के बदले में अपनी बहन या अन्य किसी स्त्री सम्बन्धी को देकर, विनिमय विवाह करता है। जिस प्रकार वस्तुओं का विनिमय पहले-पहल वस्तुओं की चोरी से विकसित हुआ, उसी प्रकार स्त्रियों की चोरी से पड़ोसी कबीलों के बीच स्त्रियों का विनिमय आरम्भ हुआ। चोरियों से प्रतिशोध की भावना उत्पन्न होती थी और निरन्तर युद्ध होते रहते थे। अतएव कभी

न कभी मनुष्य को यह समझ अवश्य आयी होगी कि हिंसात्मक लूट के स्थान पर मित्रतापूर्ण विनिमय अधिक लाभकर और व्यावहारिक है। स्त्रियों के विनिमय से, पृथक् जातियों में मैत्री स्थापित हुई और पारस्परिक विवाह की पद्धति से आदिम जातियों के बड़े-बड़े संघ बने, जो आगे चल कर, दीर्घकाल के उपरान्त, आधुनिक राष्ट्रीय-राज्यों के रूप में परिणत हुए। इस दृष्टि से समाज विज्ञान में अपहरण विवाह से विनिमय विवाह के विकास का बड़ा भारी महत्व है। भारतवर्ष में यह विकास सगोत्र विवाह निषेध के रूप में दिखाई देता है। यद्यपि अपहरण भी, विजातीय स्त्रियों का ही होता था किन्तु वह पशुबल और हिंसा पर प्रतिष्ठित था। जब यही विजातीय विवाह सामाजिक नियम के रूप में प्रतिष्ठित होता है, तब वह विनिमय विवाह का रूप ले लेता है, चाहे यह विनिमय व्यक्तिगत रूप से दो परिवारों के बीच हो अथवा इतना ही नियम हो कि दो गोत्र या जन परस्पर विवाह सम्बन्ध रखेंगे।

सेवा विवाह का सम्बन्ध मातृमूलक परिवार से है। अनेक आदिम जातियों में पत्नी प्राप्त करने के लिए श्वसुर के यहाँ सेवा करने का रिवाज है। बुशमेन, आस्ट्रेलियन और अनेक भारतीय तथा अमेरिकन जातियों में इसके उदाहरण मिलते हैं। फ्यूजियन लोगों में दामाद नाव बनाने में अपने श्वसुर की सहायता करता है और इस सेवा के बदले में वधू को प्राप्त करता है। बुशमेन में दामाद, शिकार में सहायता करता है। कई अमेरिकन जातियों में वह वधू के सेवक के रूप में श्वसुर के घर जाकर रहता है। सेवा विवाह, क्रय विवाह का ही पूर्व रूप है जिसे भारत में आसुर विवाह कहा जाता था।

सेवा विवाह के बाद क्रय विवाह का विकास हुआ। क्रय विवाह का सम्बन्ध पितृमूलक परिवार से है। पशुपालन, व्यापार और उद्योग का विकास होने पर समाज में धन की वृद्धि हुई। यह सारा धन केवल पुरुष के हाथ में रहता था क्योंकि व्यापार और पशुपालन पुरुषों ने ही आरम्भ किया था, स्त्रियों ने नहीं। अब पुरुष के लिए यह आवश्यक नहीं रहा कि वह पत्नी प्राप्त करने के लिए सेवा करे। अब वह उसे ख़रीद सकता था। एक समय यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से लक्षित होता है जब कि सेवा विवाह और क्रय विवाह दोनों साथ-साथ चलते दिखाई देते हैं, सेवा विवाह गरीबों में और क्रय विवाह धनिकों में। धन की वृद्धि के साथ सेवा विवाह के स्थान पर, क्रय विवाह का प्रचार बढ़ता गया। इसमें सन्देह नहीं कि क्रय विवाह के द्वारा स्त्री की स्थिति पुरुष की सम्पत्ति के समान हो गई किन्तु इससे विवाह में अधिक दृढ़ता और स्थायित्व भी आया। अब पुरुष

अपनी पत्नी को जल्द तलाक नहीं दे सकता था, क्योंकि उसके लिए जो कीमत चुकायी थी उसकी हानि होती। वधू की कीमत विभिन्न सांस्कृतिक युगों की आर्थिक स्थिति के साथ बदलती गई। यह कीमत अनेक वस्तुओं के रूप में दी जाती थी, जैसे कौड़ी, पशुओं की खाल, घोड़े, चौपाये, दास या रुपये के रूप में। इसमें कहीं स्त्री की उम्र, कहीं पिता के सामाजिक स्थान, और कहीं वर की सम्पत्ति का विचार किया जाता था। जैसे किसी जाति में वधू की कीमत वर की सम्पत्ति के दशमांश से अधिक नहीं होती थी। भारत में वधू का मूल्य सामान्यतः एक या दो जोड़ी बैल होता था। अनेक जातियों में विवाह योग्य लड़कियों का बाजार लगता था, जहाँ वे बेची या नीलाम की जाती थीं।

सभ्यता के विकास में बहुत आगे बढ़े हुए लोगों में, क्रय विवाह ने दहेज विवाह का रूप ले लिया। भारतवर्ष में पहले आसुर विवाह बहुत प्रचलित था। इसके बाद वह ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के लिए निषिद्ध हो गया, केवल वैश्यों और शूद्रों के लिए विहित था। किन्तु मनु ने उसका सभी वर्णों के लिए निषेध कर दिया। होमर कालीन यूनानियों में, लड़की का पिता विवाह में लड़की को मिले हुए उपहार का एक भाग, दहेज के रूप में लड़की को दे देता था। बात यह थी कि क्रय विवाह ने स्त्री को एक सम्पत्ति बना दिया था। किन्तु विकसित समाजों में लड़कियों के पिता, जिनकी भावनाएं परिष्कृत हो गई थीं, यह नहीं चाहते थे कि उनकी लड़कियों के साथ बिक्री की वस्तुओं की तरह व्यवहार किया जाय। उच्च वर्ग के लोगों ने ही सर्व प्रथम इस असभ्य प्रथा के प्रति विद्रोह किया और उन्होंने क्रय मूल्य का पूर्णतः या अंशतः लड़की को दे देने की प्रथा चलायी, जिससे वह अपने पति के घर में कुछ अधिकार प्राप्त कर सके। इस विकास की दूसरी मंजिल यह हुई कि वर स्वयं वधू को उपहार देने लगा और लड़की का पिता उसके अतिरिक्त दहेज देने लगा जिससे उसकी लड़की कम-से-कम रखेलियों से ऊँचा स्थान प्राप्त कर सके। इस अवस्था में क्रय एक प्रतीक के रूप में ही रह गया और वधू की कीमत नाम मात्र की अर्थात् एक दो मुद्रा ही रह गयी। तीसरी मंजिल पर, विवाह संस्कार से यह प्रतीक भी लुप्त हो गया। क्रय को लोग बर्बरता समझने लगे और यह नियमतः निषिद्ध हो गया। उसके स्थान पर लड़की को उपहार स्वरूप दहेज देना कर्त्तव्य हो गया। इस प्रकार क्रय विवाह से दहेज विवाह का विकास हुआ जिसमें ब्राह्मण आदि उच्च वर्गों ने नेतृत्व किया, और जन साधारण ने उनका अनुसरण किया। इसीलिए भारतवर्ष में दहेज विवाह, ब्राह्म विवाह कहलाता है। ब्राह्मणों के लिए ब्राह्म विवाह योग्य कहा

गया है। आज भी अधिकांश ऊँची जातियों में यही रीति प्रचलित है। कन्या के पिता को इसमें वर से प्रार्थना करनी होती है और धन धान्य के द्वारा उसे सन्तुष्ट किया जाता है। यह रीति आरम्भ में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में रही होगी जिनमें आसुर विवाह का सबसे पहले निषेध हुआ था।

किन्तु अनेक जातियों में दहेज विवाह ने धन विवाह अथवा सम्पत्ति विवाह का रूप ले लिया। इस अवस्था में वर-वधू का चुनाव परिवारों का सौदा हो गया जो माता-पिता के द्वारा होता था। माता-पिता को यह चिन्ता होने लगी कि धन का धन से, जमीन का जमीन से, मुकाबला रहे। वर-वधू का व्यक्तित्व गौण था। सभ्यता की इस अवस्था तक, व्यक्तित्व का इतना विकास नहीं हुआ था कि वह विवाह में प्रधानता प्राप्त करे और प्राचीन विचारों को हटा सके। केवल अपवाद स्वरूप कभी-कभी ऐसा हो जाता था। हां, कविता अवश्य सदा निराश प्रेमियों का पक्ष लेती रही और उनके पूर्वजों की आर्थिक धारणाओं का विरोध करती रही।

आधुनिक युग में पुनः जनमत में परिवर्तन हुआ है। धन के लिए अभी विवाह होते हैं। किन्तु लोगों की भावना इसके विरुद्ध होती जा रही है, जिस प्रकार इसके पहले के युग में, क्रय विवाह के विरुद्ध हुई थी। और उसी के समान होने के कारण इसे भी लोग बर्बरतापूर्ण समझने लगे हैं। हाल ही में डा० सम्पूर्णानन्द ने एक पुस्तक में शास्त्र और कानून की दृष्टि से यह सिद्ध करके, कि कन्या दान की वस्तु नहीं हो सकती, प्रगतिशील हिन्दू समाज का नेतृत्व किया है। जब तक विवाह परिवारों का सौदा था, तब तक उसमें धन और सम्पत्ति का विचार ही प्रधानरूप से होना स्वाभाविक था। अब भी कृषक समाजों में, विवाह में मुख्यरूप से दोनों पक्षों की जमीन का ही विचार किया जाता है। मध्य युग में व्यक्तिगत प्रेम, स्वकीया स्त्री के प्रति न हो कर परकीया के प्रति ही अधिक प्रवृत्त होता था, क्योंकि विवाह में तो परिवार के आर्थिक हितों का विचार ही सबसे पहले किया जाता था, किन्तु प्रेम की प्रवृत्ति व्यक्तित्व को देखती थी। वर्त्तमान समय में स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता के साथ व्यक्तित्व का विकास हो रहा है और प्रेम तथा विवाह आर्थिक बन्धनों से मुक्त हो रहे हैं। इस प्रकार धन विवाह का स्थान धीरे धीरे प्रेम विवाह ले रहा है।

प्रेम विवाह को भारतवर्ष में गांधर्व विवाह कहते थे। इसमें लड़की को अपनी इच्छानुसार वर पसन्द करने का अधिकार होता है। इस प्रकार के विवाह गांधर्व लोगों में हुआ करते थे। गन्धर्व और अप्सरा मानवी जातियाँ मानी जा सकती हैं, जोकि हिमालय में रहती थीं। उनमें प्रचलित गांधर्व

विवाह आर्य लोगों में, विशेषकर क्षत्रियों में होने लगा। दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह इसका मुख्य उदाहरण है। दुष्यन्त और शकुन्तला के आख्यान में इसकी इतनी ही विधि देख पड़ती है कि परस्पर प्रेम से अभिभूत हो कर एक दूसरे के गले में हार डाल दिया गया। इसमें यह भी आवश्यक नहीं कि इच्छित वर को कन्या का बाप कन्या दे। गांधर्व का यह एक भेद हुआ। परन्तु साधारण स्वयंवर का भेद भी गांधर्व विधि के अन्तर्गत है। महाभारत के अनुशासन पर्व में लिखा है कि "अनेक राजाओं का जमाव है, उसमें कन्या जिसे चाहे पसन्द करे और उसके गले में जयमाला डाले। कन्या का पिता उसका अभिनन्दन करे और पुत्री को इच्छित वर के साथ अर्पण कर दे।" इसका उत्कृष्ट उदाहरण नल दमयन्ती का विवाह है। दुष्यन्त शकुन्तला के गांधर्व विवाह और नल दमयन्ती के स्वयंवर में कितना भी भेद हो, तो भी यह स्वयंवर है। इस प्रकार का यह विवाह मुख्यतः क्षत्रियों के लिए कहा गया है। यह स्वयंवर विवाह, महाभारत काल तक क्षत्रियों में प्रचलित था। सिकन्दर के साथी यूनानी इतिहासकारों ने यह बात भी लिखी है कि पंजाब की कुछ जातियों में, क्षत्रियों की स्त्रियां अपने लिए आप ही वर पसन्द करती थीं।

विवाह के सारे विकास को हम तीन युगों में विभाजित कर सकते हैं। पहले अर्थात् आखेट युग में, हम अपहरण या राक्षस विवाह, क्षात्र विवाह और विनिमय विवाह और सेवा विवाह का प्राधान्य देखते हैं। दूसरे अर्थात् पशुपालन और कृषि के युग में, क्रय अर्थात् आसुर विवाह और दहेज अर्थात् ब्राह्म विवाह मुख्य रूप से उदित होते हैं। और तीसरे युग में, प्रेम विवाह अर्थात् गांधर्व विवाह का महत्व स्थापित हो जाता है।

७

सामाजिक जीवन में परिवार का महत्व

परिवार के तीन मुख्य भेद होते हैं—मातृमूलक परिवार, पितृमूलक परिवार, और स्वतन्त्र परिवार। मातृ सत्ताक परिवार का शाब्दिक अर्थ होता है—वह परिवार जिसमें पत्नी या माता का नेतृत्व हो। लेकिन वास्तव में यह बात अपवाद के रूप में ही कुछ आदिम जातियों में देखी जाती है। अतः अब या तो मातृ सत्ताक परिवार के स्थान पर मातृमूलक परिवार शब्द का प्रयोग होता है या मातृ सत्ताक शब्द का व्यवहार करते हुए भी अर्थ मातृमूलक परिवार ही किया जाता है। मातृमूलक परिवार के चार गुण होते हैं। पहले तो वंश परंपरा माता से चलती है न कि पिता से। दूसरे, परिवार का नेतृत्व पति नहीं करता वरन् पत्नी के कुल का ही कोई पुरुष करता है, या तो वह बच्चों का नाना होता है या मामा। तीसरी बात यह है कि पति, पत्नी के घर में रहता है न कि पत्नी पति के घर, और चौथी विशेषता यह होती है कि मातृमूलक परिवार में सगोत्र विवाह का निषेध होता है और जन या कबीला गोत्रों में विभक्त हो जाता है जो अपने अन्दर विवाह नहीं करते वरन् दूसरे गोत्रों में करते हैं। इस तरह गोत्र का संगठन तो घनिष्ठ होता है किन्तु पति-पत्नी भिन्न गोत्रों में विभक्त रहते हैं। भारत में मातृमूलक परिवार मालाबार में अब तक चला जा रहा है।

मातृमूलक परिवार के विरुद्ध पितृमूलक परिवार होता है। आदिम सभ्यताओं में इन दोनों में से किसी एक प्रकार का परिवार पाया जाता है। प्रायः प्राचीन काल की बड़ी-बड़ी सभ्यताओं में पितृमूलक परिवार रहा है। आर्यों की सभ्यता भी पितृमूलक थी। सम्पत्ति तथा कृषि की वृद्धि, सत्ता का केन्द्रीकरण और श्रम-विभाजन का विकास उन्नत समाज का लक्षण है और ये वस्तुएं पितृमूलक परिवार से अधिक अनुकूलता रखती हैं। इसके अतिरिक्त यह परिवार समाज को अधिक संगठित बनाता है क्योंकि इसमें पिता और माता के बीच पारिवारिक जिम्मेवारियों का बटवारा नहीं होता। पितृमूलक समाज पूरे पूरे परिवारों का समूह होता है और मातृमूलक समाज, पति और

पत्नी के परिवारों के विभाजन के कारण कई समूहों में विभक्त हो जाता है। अर्थात् मातृमूलक समाज संघात्मक होता है, और पितृमूलक समाज एकात्मक होता है। पश्चिमी सभ्यता में भी मध्य युग में पितृमूलक परिवार की प्रथा थी जो कि नई आर्थिक शक्तियों के प्रभाव से धीरे धीरे नष्ट हो गई। १८ वीं शताब्दी के अन्त में परिवारों में स्त्रियों की स्थिति सम्बन्धी धारणा में बड़ा परिवर्तन हुआ। इसके दो कारण थे। एक तो सामंत युग की अधिकारवादी नीति पितृमूलक परिवार के अधिक अनुकूल थी। राजा से लेकर प्रजा तक, अधिकारों की एक सीढ़ी थी। उस समय पुरोहित, योद्धा और ज़मींदार—यही तीन पेशे सम्मानित थे। इस अधिकार-शृंखला में स्त्रियों का स्थान बहुत नीचा था। जब धर्म और राजनीति में इस अधिकारवादी नीति का अन्त हुआ, तो सामंत युगीन पितृमूलक परिवार का सांस्कृतिक आधार जाता रहा। परिवार के सदस्यों पर परिवार का नियन्त्रण कम हो गया। जनतांत्रिक प्रवृत्तियों ने नागरिकता का अधिकार परिवार से हटाकर प्रत्येक व्यक्ति को दे दिया। बच्चों के विवाह का चुनाव पिता से हटकर स्वयं बच्चों के हाथ में आ गया। प्रेम की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ने प्रेम का आदर्श उपस्थित किया, जिसकी परिणति विवाह के रूप में होना स्वाभाविक माना गया। इस सांस्कृतिक परिवर्तन का आधार आर्थिक परिवर्तन था। १८ वीं शताब्दी में दस्तकारी के औज़ारों का स्थान बड़े बड़े यन्त्रों ने ले लिया। इन नये साधनों के विकास के साथ साथ परिवार के बहुत से आर्थिक धंधे उसके क्षेत्र से निकल गये। इन धंधों के साथ धंधा करने वाले भी घर से बाहर निकले। पहले परिवार आत्मनिर्भर होता था, यद्यपि उसकी यह आत्मनिर्भरता अपर्याप्त और परिश्रम-साध्य होती थी, नये साधनों ने श्रम की उत्पादकता बढ़ा कर पारिवारिक श्रम को हलका कर दिया। बहुत सी स्त्रियां कारखानों और दफ्तरों में काम करने लगीं। इतिहास में वे सर्वप्रथम सामाजिक विभाजन में आयीं। साथ ही साथ घर की बनी चीज़ों के स्थान पर खरीदी हुई चीज़ों का प्रयोग होने लगा। घर के कामों में भी अल्प श्रम-साध्य तरीके बरते जाने लगे। परिणाम स्वरूप गृहकार्य में लगने वाली शक्ति और समय बहुत कम हो गया। २० वीं शताब्दी के आरम्भ में यह प्रवृत्ति बहुत विकसित हो गयी। प्रथम महायुद्ध के बाद विशेष रूप से स्त्रियां घरेलू उद्योग-धंधों को छोड़ कर लाभप्रद धंधों में लगी हुई दिखाई पड़ीं। सन् १९२० ई० में अमेरिका की २३% विवाहित स्त्रियां ऐसे धंधों में लगी हुई थीं और १७ से २९ वर्ष की उम्र की लड़कियों की ४०% संख्या लाभप्रद कार्यों में लगी हुई थी। सन् १९३० के आर्थिक संकट में २० से २५ वर्ष तक की स्त्रियों की ४२% संख्या ऐसे कार्यों में थी। इन आँकड़ों से यह

सिद्ध होता है कि सामाजिक धंधे स्त्रियों के लिए विवाह का स्थान नहीं ले लेते, वरन् उसकी योग्यता उत्पन्न करते हैं क्योंकि सामाजिक धंधों में अधिक स्त्रियां विवाह के पहले ही दिखाई पड़ती हैं। स्त्री पुरुष की पारिवारिक जिम्मेवारियों में जो स्वाभाविक भेद हैं, उसके कारण वे आर्थिक क्षेत्र में पुरुषों का मुकाबला नहीं कर सकतीं। आर्थिक परिवर्तनों ने धीरे धीरे परिवार को उसके विशेष कार्यों तक सीमित कर दिया अर्थात् संतानोत्पत्ति की जिम्मेदारियों के अतिरिक्त अन्य कार्य परिवार के क्षेत्र से निकल गये।

परिवार की अनेक जिम्मेदारियों को बहुत सी सामाजिक संस्थाओं ने अपने हाथ में ले लिया, जैसे बच्चों की चिकित्सा तथा शिक्षा सम्बन्धी अन्य संस्थाओं ने। इसके अतिरिक्त समाज द्वारा, पारिवारिक जिम्मेदारियों के निर्वाह के लिये, अनेक प्रकार की आर्थिक सहायता तथा सुविधाएं प्रस्तुत की जाती हैं। मातृत्व सम्बन्धी सहायता, बच्चों की संख्यानुसार बोनस इत्यादि इसी प्रकार की सुविधाएं हैं। इसके अतिरिक्त समाज के विकास के साथ संतान की संख्या घटती चली जा रही है, यद्यपि जन्म संख्या घटने के साथ ही मृत्यु संख्या भी घट रही है। जन्म संख्या का ह्रास कुछ विशिष्ट देशों के संपन्न वर्गों तथा शिक्षित समुदायों में शहर के रहनेवालों तथा उन पेशों में लगे हुए मनुष्यों और परिवारों में अधिक दिखाई देता है जिनमें विवाहित स्त्रियों की संख्या अधिक है। तात्पर्य यह कि यद्यपि पारिवारिक जिम्मेदारियों का ज्ञान अधिक बढ़ जाने के कारण विवाह करने वालों की संख्या कम हो गयी है और लोग अधिक उम्र में विवाह करने लगे हैं किन्तु परिवार का मुख्य कार्य अब भी संतान पालन है। और जन्म संख्या कम होने के साथ साथ मृत्यु संख्या भी कम होने के कारण वास्तव में पारिवारिक धर्म की उपेक्षा नहीं होती वरन् उसका समुचित रूप से पालन ही होता है क्योंकि इस प्रकार संतान के जीवन, स्वास्थ्य, शक्ति और योग्यता का अपव्यय नहीं होने पाता; विशेष कर माताएं सामाजिक कार्यों के लिये मुक्त हो जाती हैं।

परिवार के पुराने कार्यों में से बहुत से कार्यों को समाज ने अपने हाथ में ले लिया है। समाज के कारखाने और दफ्तर इन आर्थिक कार्यों को परिवार की अपेक्षा अधिक योग्यता और कम खर्च के साथ कर सकते हैं। स्कूल और अस्पताल, शिक्षा और चिकित्सा का जैसा प्रबन्ध कर सकते हैं, वैसा परिवार में नहीं हो सकता। शहरों में कपड़े धोने, अचार-मुरब्बे बनाने और रोटी बनाने के काम भी विशेष पेशों के द्वारा होने लगे हैं। ऐसी परिस्थिति में परिवार के तीन मुख्य कार्य रह जाते हैं: १. संतान पालन; २. स्थायी रूप से काम वासना की तृप्ति और ३. गृहस्थी के आर्थिक, सांस्कृतिक और मानसिक सुख।

यह बात नहीं है कि इनमें से कोई भी काम परिवार ही करता है। किन्तु इन सब कार्यों का ऐसा सामंजस्य पूर्ण सम्बन्ध परिवार में ही होता है, जिससे प्रत्येक का सुख दूसरों की सहायता से अधिक सुसंस्कृत हो जाता है तथा बढ़ भी जाता है। काम तृप्ति एक पृथक वासना न रह कर जीवन के कार्य में सहयोग का एक अंग बन जाती है। बच्चों का पालन, परिवार के वायुमंडल में जितनी अच्छी तरह हो सकता है, उतनी अच्छी तरह किसी सरकारी या सामाजिक संस्था द्वारा नहीं हो सकता। पारिवारिक कर्त्तव्यों के इन तीन कार्यों में सीमित हो जाने के साथ ही साथ इन तीनों कार्यों का विकास, भी हो जाता है।

संतान पालन का कार्य परिवार का मुख्य कार्य हो गया है। अधिकांश सभ्य देशों में अवैध संतान की संख्या, संतति निग्रह के कारण बहुत कम हो गयी है। इसका अर्थ यह हुआ कि संतानोत्पत्ति तथा पालन का कार्य परिवार में ही सीमित हो गया है और इस कार्य को परिवार अधिक योग्यता और बुद्धिमत्ता पूर्वक करता है, जिससे बच्चों की मृत्यु संख्या घट गयी है तथा उनके रोगों पर कुछ नियंत्रण हो गया है। परन्तु इस कार्य में संतति निग्रह का प्रयोग बाधक ही सिद्ध हो सकता है क्योंकि विवाहित स्त्री पुरुष संतानोत्पत्ति तथा पालन से बिलकुल ही विरत हो सकते हैं।

पितृमूलक परिवार की अपेक्षा आधुनिक विवाह अधिक स्वच्छन्द होता है। पति पत्नी के बीच एक दूसरे के व्यक्तिगत गुणों का आकर्षण अधिक महत्व रखता है। इसलिए यह सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ होता है। इस प्रकार के परिवार में प्रेम का आनन्द तीव्र होता है। यही कारण है कि विवाह के बाहर काम तृप्ति की प्रथाएं जैसे वेश्यागमन, व्यभिचार आदि लुप्त हो रही हैं क्योंकि अब संतति निग्रह के द्वारा परिवार में प्रेम-तृप्ति का कार्य अवांछित सन्तान पालन के बोझ से मुक्त हो गया है। किन्तु साथ ही साथ संतति निग्रह का प्रयोग अविवाहित संयोग से संतानोत्पत्ति के भय को दूर करके समाज के नैतिक आदर्श में भी एक भारी परिवर्तन उपस्थित कर सकता है।

परिवार में स्थाई मित्रता और सहयोग की भावना की तृप्ति होती है। इस प्रकार का घनिष्ठ सहयोग गोष्ठियों और होटलों में प्राप्त नहीं हो सकता जैसा कि पति पत्नी और बच्चों के नैसर्गिक सम्बन्ध में प्राप्त होता है। इस कर्तव्य की पूर्ति के लिए भी आज का परिवार अधिक योग्य होता है। क्योंकि अब उसे उन आर्थिक कार्यों से छुटकारा मिल गया है जो परिवार के मानसिक सम्बन्धों को परिष्कृत नहीं होने देते थे। पितृमूलक परिवार में अति परिश्रम और पति के प्रभुत्व के कारण परिवार का पूरा अर्थ चरितार्थ नहीं होता था।

वर्तमान परिवार के सदस्य अपने आर्थिक कार्यों के लिए तथा अनेक प्रकार के मनोरंजनार्थ परिवार के बाहर जाते हैं। इसलिए परिवार के कार्य उन्हीं तृप्तियों तक सीमित हो गये हैं जो उसके विशिष्ट स्वरूप से सम्बन्ध रखती हैं।

पितृमूलक परिवार आर्थिक तथा राजनैतिक शक्ति पर आश्रित होता है और सामंतशाही तथा कृषि मूलक व्यवस्था के अनुकूल होता है। आधुनिक युग में धर्म का अधिकार और परंपराओं की शक्ति कम हो गयी है। पहले विवाह विच्छेद प्रायः असम्भव होता था। विशेषकर स्त्रियों के लिए परिवार के बाहर कोई आश्रय ही नहीं था। सामाजिक प्रतिष्ठा का अर्थ परिवार का अधिकार था। बड़ा लड़का ही सम्पत्ति का अधिकारी होता था और असम्पन्न वर्गों में परिवार से, जन्मना प्राप्त पेशे और ज़मीन का अधिकार प्राप्त होता था। इन सब तरीकों से सामाजिक स्थान और पारिवारिक स्थान की एकता बनी रहती थी। इन्हीं सब कारणों से संसार के मुकाबले में सारा परिवार एक इकाई बन कर कार्य करता था। तब से आज के समय का भेद यह है कि श्रम विभाजन ने जीवन के अनेक धन्धों में पारिवारिक सहयोग का क्षेत्र बहुत कम कर दिया है। परिवार का प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से संसार के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है।

आधुनिक युग में पारिवारिक वैमनस्य और तलाक की बढ़ती हुई संख्या के दो कारण हैं। स्वतन्त्र परिवार में पितृमूलक परिवार की अपेक्षा मानसिक संकट अधिक उत्पन्न होते हैं। पहले का परिवार आर्थिक आवश्यकता और सामाजिक दबाव से पति-पत्नी के बीच सामंजस्य कायम रखता था। आज यह आवश्यकता और दबाव कम हो जाने के साथ पति-पत्नी को पारस्परिक सामंजस्य की स्थापना के लिए अपनी मानसिक शक्ति पर ही निर्भर रहना पड़ता है। यह कठिनाई इस बात से और भी बढ़ जाती है कि स्त्रियों पर पुरुषों का प्रभुत्व नहीं रहा। अतः दो स्वच्छंद आत्माओं का सामंजस्य कठिनता से साध्य होता है। यही अस्थिरता का दूसरा कारण है। विशेषकर काम वासना जैसी नितान्त व्यक्तिगत, आंतरिक, सूक्ष्म और परिवर्तनशील भावना के लिए सामंजस्य प्राप्त करना और भी कठिन हो जाता है। ये दोनों कारण साथ साथ चलते हैं। परिवार के धंधे जितने कम होते जाते हैं, उतना ही पति-पत्नी का व्यक्तिगत प्रेम एक दूसरे के प्रति व्यवहार में अधिक प्रकट होता है। किन्तु आधुनिक परिवार जहाँ कुछ नई समस्याओं को उत्पन्न करता है, वहाँ वह कुछ पुरानी समस्याओं को हल भी करता है। जैसे वेश्यागमन और यौन रोगों को। अविवाहित स्त्रियों की अवैध संतान की बहुत बढ़ी हुई संख्या को इसने बहुत

कम कर दिया है। अमेरिका में ऐसे बच्चों की मृत्यु संख्या वैध बच्चों की अपेक्षा चौगुनी है जिससे मालूम होता है कि उन बच्चों के स्वास्थ्य के प्रति कैसी उपेक्षा की जाती है। साथ ही साथ कुल मिलाकर मृत्यु संख्या कम हुई है। यह सब संतति निग्रह द्वारा हुआ है। आधुनिक परिवार का सबसे बड़ा लाभ यह है कि उसने व्यक्ति और जाति के विरोध को बहुत कम कर दिया है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने बताया है कि जब जन्म संख्या और मृत्यु संख्या बढ़ जाती है तब जाति रक्षा में शक्ति का अधिक व्यय होता है और जब इन दोनों की संख्या कम होती है तब कम। विकास क्रम में हम देखते हैं कि छोटे जीवों में जन्म संख्या की अपेक्षा मृत्यु संख्या अधिक रहती है। किन्तु जैसे जैसे हम विकास की ऊपरी सीढ़ियों पर पहुँचते हैं यह अपेक्षाकृत कम होती जाती है।

आज के उन्नत समाज में जनसंख्या को कायम रखने के लिये प्रति परिवार दो तीन बच्चों का होना पर्याप्त हो जाता है। इस प्रकार मानव जीवन का बहुत सा अपव्यय और बहुत सी वेदना कम हो जाती है। स्त्रियों के व्यक्तित्व पर से बहुत बड़ा बोझा उतर जाता है। बच्चों के पालन में परिवार के श्रम का अपव्यय नहीं होता और इस परिश्रम का संतोषदायक फल प्रकट होता है। काम वासना तथा संतानोत्पादन का मनुष्य की आवश्यकताओं से अधिक सामंजस्य हो जाता है। यही कारण है कि पाश्चात्य जगत में विवाह की संख्या भी बढ़ रही है। यद्यपि साथ ही साथ तलाक की संख्या भी बढ़ रही है किन्तु उसका आधुनिक औद्योगिक तथा नागरिक सभ्यता से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। यदि अवैध बच्चों का भेद मिटा दिया जाय तो भी संतति निग्रह के कारण, अवैध बच्चे कम ही होंगे क्योंकि स्त्री और पुरुष का मातृ-पितृ स्वभाव उन्हें परिवार के अन्दर ही संतानोत्पत्ति करने के लिए विवश करेगा। लोगों का यह भय निर्मूल हो गया है कि परिवार के कार्यों के कम हो जाने से परिवार का विघटन हो जायगा।

परिवार का सामाजिक महत्व इस बात से सिद्ध होता है कि विवाहित व्यक्तियों में अपराध, उन्माद और दरिद्रता अपेक्षाकृत कम पायी जाती है। अमेरिका के पुरुषों में २० से ३० वर्ष तक की आयु के बीच विवाहित पुरुषों की अपेक्षा अविवाहितों की मृत्यु संख्या दुगुनी है। इससे सिद्ध है कि परिवार अपनी प्रत्यक्ष सेवाओं के अतिरिक्त सामाजिक दृढ़ता और शक्ति का आधार भी है।

८
वर्ग और वर्ण

भारत के अवशिष्ट आदिवासियों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इनकी जन-व्यवस्था में ही, आर्थिक विकास के कारण धीरे-धीरे श्रम विभाजन और विनिमय होने लगता है। कारीगरों का वर्ग, समाज की अन्य कृषक जनता से अलग होने लगता है और इसके अतिरिक्त समाज के प्रत्येक अवयव अर्थात् प्रत्येक जन या गोत्र का एक मुखिया और पुरोहित तो होता ही है जिनका पद धीरे-धीरे सहज रूप से वंशानुगत हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण, पुरोहित, क्षत्रिय, मुखिया और वैश्य, कृषक तथा कारीगर, तीन वर्णों के विभाजन का बीज जन-व्यवस्था में ही विद्यमान है। और जहाँ कुछ जनों ने पहले जंगलों को साफ किया था और इस कारण जमीन के मालिक बन गये थे वहां, जो लोग उनके बाद आये, वे उनके अधीन रहे और समाज में उनको अर्द्धदास की हैसियत मिली, और कृषि के विकास के साथ-साथ जन-समाज में भूस्वामियों के मुक़ाबिले दासों तथा अर्द्धदासों का शूद्र वर्ण भी उत्पन्न हो गया। किन्तु अभी यह विभाजन ऐकान्तिक नहीं है। सभी लोग सब काम करते हैं, किन्तु कुछ लोग कोई एक काम विशेष रूप से करने लगे हैं। विनिमय अपवाद स्वरूप ही होता है। यह स्पष्ट है कि जन-समाज की अवस्था में पेशों के विभाजन के लिए इससे अधिक अवकाश नहीं होता। श्रम विभाजन तथा विनिमय के विशिष्ट विकास के लिए जीवन के साधनों में और अधिक उन्नति अपेक्षित है।

भारत वर्ष के प्राचीन प्रस्तर युग के निवासी मानव विकास की इसी मंजिल पर थे जब कि भारत वर्ष में द्राविड़ों और आर्यों का उदय हुआ। महाभारत में वर्णित उत्सव संकतादि दस्युगण प्रायः ये ही आदिवासी होंगे जिन्हें अर्जुन ने जीता था। ज्ञान पड़ता है कि जिन जनों ने शिकार और कुदाल की खेती से आगे बढ़कर पशुपालन तथा हल की खेती का आविष्कार कर लिया और इस प्रकार आस पास के अन्य जनों से अपने को विशिष्ट बना लिया, उन्हीं ने अपने को श्रेष्ठता वाची 'आर्य' शब्द से विभूषित किया। पशु

पालन और कृषि के विकसित हो जाने पर समाज में सम्पत्ति की मात्रा प्रचुर हो जाती है जन संख्या बढ़ जाती है और अनेक वस्तुओं का उत्पादन होने लगता है जिससे श्रम-विभाजन के लिए अधिक अवकाश प्राप्त होता है। उत्पादन के इन नये तरीकों से प्रस्तुत उपज का व्यापारिक विनिमय भी होने लगता है। साथ ही उपज और उत्पादन तथा विनिमय के साधनों (ज़मीन, जहाज आदि) में निजी सम्पत्ति स्थापित हो जाती है और उसके परिणाम स्वरूप समाज में वर्ग भेद का प्रादुर्भाव होता है। ऋग्वैदिक आर्यों और उनके प्रतिद्वन्द्वी असुरों या द्राविड़ों को हम विकास के इसी स्तर पर पाते हैं।

वास्तव में पहला बड़ा श्रम-विभाजन और विनिमय किसी एक समाज के अन्दर व्यक्तियों में न होकर दो भिन्न समाजों के बीच होता है जबकि एक समाज अपने उत्पादन के साधनों की आदिम अवस्था से उठकर अपने आस-पास के अन्य समाजों में अपने को विशिष्ट बना लेता है, और अपनी अतिरिक्त उपज का उन अनुन्नत समाजों की श्रम, शक्ति अथवा उसकी उपज से विनिमय करने लगता है। यहीं पर एक वृहत्तर श्रम-संगठन की नींव पड़ती है जिसके दो स्पष्ट भाग होते हैं; एक उन्नत समाज से और दूसरा अनुन्नत समाजों से बनता है। अबतक समाज के व्यक्तियों में एक बुनियादी समता वर्तमान थी चाहे किसी की कोई भी विशेष रुचि हो। यही कारण है कि भारत की आदिम तथा प्राग्वैदिक काल की जातियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का विभाजन विद्वानों को दिखायी देता है पर उसे वे वास्तविक वर्ण-भेद नहीं कह पाते। वास्तविक वर्ण-भेद तो तब पैदा होता है जब आर्यों का उदय होता है और आर्य लोग अनार्यों से अपने को अलग कर लेते हैं तथा उन्हें अपना दास बनाकर देखने लगते हैं। इन दासों की तुलना में सारे आर्य चाहे वे ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हों, सब समान थे। इस नये श्रम-संगठन में आकर आर्यों और अनार्यों दोनों की पूर्व कालीन सामाजिक समता नष्ट हो जाती है। आर्यों और अनार्यों के इस सम्मिलित नये संगठन में विषमता ही बुनियादी तथ्य है। समाज की रचना में यह एक नया तत्व प्रविष्ट हो जाता है जो पहले के सामाजिक आधार से सर्वथा विपरीत है। जहाँ से अनार्य लोग आर्यों के समाज की उपज के बदले अपने श्रम का विनिमय आरम्भ करते हैं, वहीं से वे अपनी आत्म-निर्भरता और स्वतन्त्रता का त्याग करके आर्य समाज की दासता स्वीकार करते हैं। उनकी दासता से आर्य समाज या सम्मिलित समाज में जो विषमता उत्पन्न होती है, उसका प्रभाव स्वयं आर्यों पर भी पड़े बिना नहीं रहता। एक बार जब यह तत्त्व समाज में प्रविष्ट हो जाता है तब वह सारे समाज में व्याप्त हो जाता है। जिस प्रकार पहला बड़ा श्रम-विभाजन और विनिमय दो (विभिन्न-

स्तर की) जातियों के बीच होता है और उसके बाद ही किसी जाति के अन्दर विकसित होता है, उसी प्रकार, बल्कि उसी के आधार पर पहला वर्ण-भेद भी उन्हीं दो जातियों के बीच होता है और उनके एक संगठन में संगठित होने पर उनके उत्पादन के साधनों की वास्तविक असमानता के कारण उत्पन्न होता है और उसके बाद ही वह सम्मिलित समाज के विशिष्ट अंगों में भी विकसित होता है। यही कारण है कि अनार्य दासों के सम्मिलन के बाद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में जो वैषम्य उत्पन्न हुआ, उसकी तुलना उनके पूर्ववर्ती विभाजन से नहीं की जा सकती। पहले उनमें अधिक से अधिक आंशिक श्रम-विभाजन था, ऊंच नीच का भेद नहीं। अब उनमें वास्तविक वर्ग-भेद या वर्ण-भेद उत्पन्न हुआ। यह वर्ण-भेद सीधे उस प्राथमिक वर्ण-भेद के द्वारा उत्पन्न हुआ जो उनके और अनार्यों के बीच था। क्योंकि अनार्यों से अतिरिक्त श्रम के शोषण से ही आर्यों की सम्पत्ति बढ़ी और उनमें धनी और निर्धन के आर्थिक भेद स्थापित हुए। यही कारण है कि वर्णों की वास्तविक उत्पत्ति शूद्र वर्ण से होती है। इस अर्थ में शूद्र ही पहला वर्ण है जो अन्य वर्णों को जन्म देता है अर्थात् उन्हें वर्णत्व प्रदान करता है। इसीलिए वर्ण-व्यवस्था का उदय उस समय से पाया जाता है जब अनार्य लोग शूद्र बन कर आर्य-समाज के आर्थिक संगठन के अंग बन गये। पहले जब वैदिक युग में वे आर्यों के द्वारा केवल दासों अर्थात् गृह-सेवकों के रूप में प्रयुक्त होते थे और उनके उत्पादन में उनका कोई भाग नहीं था, तब तक आर्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्यों का भेद ऊंच नीच के तीव्र भेद में परिणत नहीं हुआ था।

मध्ययुगीन यूरोप में भी हमें सर्वत्र सुव्यवस्थित रूप में संगठित वर्गों की राष्ट्रीय सभाएं दिखायी देती हैं। मध्ययुगीन अंग्रेजी विधान में हम चार वर्ण देखते हैं जिन्हें एस्टेट्स कहा जाता था। ये चार वर्ण पुरोहित, जमींदार, किसान और नागरिक अर्थात् व्यापारी थे। इनमें से प्रथम तीन जमीन की सम्पत्ति पर प्रतिष्ठित थे। पुरोहितों का आध्यात्मिक प्रभाव बहुत प्रबल था, और हेनरी अष्टम से पहले बड़े से बड़े राजा उनकी अवहेलना का साहस नहीं करते थे। पुरोहितों की बड़ी बड़ी सम्पत्तियां थीं। धार्मिक लोगों के दान से प्राप्त बड़ी बड़ी जमींदारियों के अतिरिक्त उन्हें अनेक प्रकार के धार्मिक कर मिलते थे। कैथोलिक धर्म के प्रति मध्यम वर्ग का विरोध मूलतः आर्थिक था। अपनी सम्पत्ति के आधार पर ही वे लार्ड सभा के सदस्य हुए। दूसरा वर्ण बैरन्स का था। वे भी लार्ड सभा के सदस्य थे। इन बड़े उपाधिधारी जमींदारों से छोटे-छोटे नाइट लोग बिलकुल अलग समझे जाते थे। हाउस आफ कामन्स में कामन्स शब्द की उत्पत्ति तीसरे वर्ण अर्थात् साधारण जनता से नहीं वरन्—

कम्युनिटस—शब्द से है जिसका अर्थ जिला या शहर का राजनीतिक संगठन होता है। इसलिए हाउस आफ कामन्स में देहात के किसान और शहरों के व्यापारी अपनी अपनी सामूहिक संस्थाओं के प्रतिनिधि रूप में सदस्य होते थे। यह अंग्रेजी पार्लमेन्ट की विशेषता थी कि उसमें तीन या चार वर्ग अलग अलग नहीं थे। फ्रांस में पृथक वर्ग थे पुरोहित, जमींदार और जनसाधारण का तीसरा वर्ग। स्वीडेन में चार वर्ग थे, पुरोहित, जमींदार, किसान और व्यापारी। दोनों देशों में इन वर्गों की अलग अलग सभाएं होती थीं।

जब प्रादेशिक राज्यों की स्थापना हुई तब समाज के विकास में एक विचित्र प्रगति हुई। सामन्त युग का सामाजिक संस्थान धीरे धीरे लुप्त हो चला। सामन्त व्यवस्था का सिद्धान्त यह था कि भूमि-स्वामित्व ही सारी प्रतिष्ठा और शक्ति का प्रतीक है। किन्तु अब पूंजी को जो महत्व प्राप्त हुआ, उससे सामन्त व्यवस्था का यह सिद्धान्त कमजोर पड़ गया। पूंजी की शक्ति के सामने जमींदारी के पुराने अधिकार लुप्त होने लगे। जमीन उत्तराधिकार में प्राप्त होती थी और पूंजी का अर्जन होता है। इस प्रकार सामन्ती व्यवस्था की कठोर वर्ग-पद्धति टूट गयी और एक नयी वर्ग-पद्धति का निर्माण हुआ जो उससे अधिक अस्थिर थी और उसके स्तर उतने स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं थे। सामन्त प्रथा में मनुष्य का वर्ग जन्म से निर्धारित होता था, किन्तु पूंजी-वाद में उत्तराधिकार और धन की सुरक्षा होते हुए भी वर्गों में निरन्तर परि-वर्तन होते रहते हैं क्योंकि किसी का भाग्य स्थिर नहीं रहता। कभी तेजी और कभी मन्दी आती रहती है, यन्त्रों में तेजी से परिवर्तन होते रहते हैं और व्यक्ति अपनी व्यापारिक बुद्धिमत्ता अथवा बुद्धिहीनता के कारण उठता और गिरता रहता है।

इस क्रिया को कभी कभी वर्गों की समता का नाम देते हैं। किन्तु यह आंशिक सत्य ही है। जहां तक सामाजिक और आर्थिक अवसरों का प्रश्न है, कुछ समता अवश्य हुई है। इन अवसरों के बहुत विस्तृत हो जाने के कारण सामान्य तथा सार्वभौम संस्कृति में बहुसंख्यक मनुष्यों का प्रवेश हो जाता है। यह इस बात से प्रकट होता है कि आज कल सब लोग एक ही तरह के कपड़े पहनते हैं और जहां तक उनके काम की आवश्यकताएं अनुमति देती हैं, एक ही तरह की वेश भूषा रखते हैं, तथा जहां तक उनकी विभिन्न आर्थिक स्थितियों में संभव होता है, एक ही प्रकार के आमोद-प्रमोद मनाते हैं और एक दूसरे से उस प्रकार के शिष्टाचार की आशा नहीं रखते जिससे पुराने समय में ऊँच नीच का भेद प्रगट होता था। इन बाहरी बातों से पता चलता है कि वर्ग की भावना अब सामाजिक व्यवहार में वर्गों की वास्तविकता बनी हुई है और

शक्ति तथा अवसर में वास्तविक अन्तर बना हुआ है। इसके अतिरिक्त अब मानसिक रूप से वर्ग भेद की स्वीकृति न रह जाने के कारण वर्ग भेद में एक नयी कटुता उत्पन्न हो गयी है। मध्ययुग में वर्ग भेद, धर्म और राज की शक्ति तथा सामाजिक मर्यादा के द्वारा स्थिर रहता था और वर्गों में शिक्षा और संस्कृति का जो भारी अन्तर रहता था उससे भी इस भेद को समर्थन प्राप्त होता था। आज ये सब शक्तियां कमजोर पड़ गयी हैं, और वर्गों का अन्तर मुख्यतः आर्थिक स्थिति, जीविका के साधन और सम्पत्ति के द्वारा ही निर्धारित होता है। वास्तव में किसी वर्ग की स्थिति इस बात पर निर्भर है कि पूंजी से उसका कैसा सम्बन्ध है। यह पूंजी, जिसने सामन्त व्यवस्था का उन्मूलन किया, आज की सभ्यता का गुण और दोष दोनों ही है। इसके द्वारा अतिरिक्त धन की उत्पति हुई है जो दिन प्रतिदिन बहुसंख्यक मनुष्यों के जीवन स्तर को ऊँचा उठा रहा है और उन्हें इस बात के लिए अवकाश दे रहा है कि वे जीवन-निर्वाह मात्र से ऊपर उठकर अन्य सांस्कृतिक कार्यों में लग सकें। किन्तु साथ ही साथ उसने समाज के दो वर्गों में घोर विरोध उत्पन्न कर दिया है जिनमें से एक उत्पादन के साधनों का स्वामी है और दूसरा उनका प्रयोग-कर्त्ता है, एक खरीदता है और दूसरा खरीदा जाता है, एक पूंजी से जीता है और दूसरा श्रम से। आज के जटिल समाज में जो अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हुए हैं उनमें यह भेद सब से अधिक गहरा और सबसे अधिक चिन्ता जनक है और इसी के द्वारा नये सामाजिक परिवर्तन की सम्भावना भी दिखाई देती है।

६

राज का स्वरूप और विकास

महाभारत के वनपर्व में लिखा है कि...

कृतं नाम युगं श्रेष्ठं धर्म सन्यास एव च।
कृतमेव न कर्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे॥
न सामृग्यजुर्वेदा तदा न क्रय विक्रयः।
न भयं नापि सन्तापो न च ईर्ष्या न च मत्सरः॥
समाश्रयं समाचारं समज्ञानं च केवलम्।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्चाकृत लक्षणाः।

और फिर शान्ति पर्व में भीष्म ने राज्य की उत्पत्ति बताते हुए कहा है कि···

नियतस्त्वं नरव्याघ्र ! शृणु सर्वमशेषतः।
यावत् राज्यं समुत्पन्नं आदि कृतयुगेऽभवत्॥
नैव राज्यं न राजासीन् न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजास्सर्वाः रक्षंतीस्म परस्परम्।

अर्थात् कृतयुग में मनुष्यों की आकांक्षा थोड़ी, सीधी-सादी और उनके उपयोग की वस्तु—फलमूल, वल्कल आदि सब प्रकृति से उनको बनी बनायी··· कृतं एव न कर्तव्यम्···मिल जाती थी। उन्हें प्राप्त करने के लिए कोई विशेष व्यापार करने की आवश्यकता न थी। क्रय-विक्रय नहीं था। परिग्रह अर्थात् अलग अलग निजी सम्पत्ति नहीं थी। साम, ऋक् आदि वेद-विद्या नहीं थी। वर्ण-भेद नहीं था। सब मनुष्यों के आश्रय अर्थात् वर्तनोपाय और आचार तथा ज्ञान सब समान थे। कृतयुग में न राज्य था न राजा-प्रजा का भेद था। न दण्ड का कोई प्रयोजन था न दण्ड देने वाला था। सब प्रजा परस्पर स्नेह की अन्तः प्रेरणा से धर्म अर्थात् एक दूसरे का पालन-पोषण, रक्षा, सहायता करते थे।

इसके बाद कई श्लोकों में राज्य की उत्पत्ति बतायी है जिनका आशय डा० भगवान्दास के शब्दों में इस प्रकार है: "काल पाकर उनमें क्रमशः

बलाबल का भेद उत्पन्न हुआ। तब मोह, लोभ, काम, क्रोध, हठ आदि भाव उनमें बढ़े। नैसर्गिक धर्म का नाश हुआ, जिससे नैसर्गिक ब्रह्म अर्थात् सद्योज्ञान नष्ट हुआ। फिर ब्रह्म के नाश से धर्म का अधिक नाश हुआ। तब देवताओं को बड़ा भय हुआ। भयभीत देवता ब्रह्मा अर्थात् बुद्धि तत्व की शरण में गये। तब ब्रह्मा ने ध्यान करके नीति शास्त्र की रचना की और उसमें समस्त वाङ्मय के विषय, अभ्युदय, निश्रेयस अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चातुरार्थ्य और उसके आश्रय चातुराश्रम्य, चातुर्वर्ण्य, चातुर्होत्र, चातुर्विद्य आदि का यथा स्थान सन्निवेश कर दिया तथा इस शास्त्र का, जो सब शास्त्रों का नवनीत है, देवों और मनुष्यों में प्रचार कराया। इसके अनन्तर देवताओं ने विष्णु से कहा कि जो सब से श्रेष्ठ पुरुष हो उसे हम को बताइये। तब एक ऐसा श्रेष्ठ सात्विक दयालु पुरुष उत्पन्न हुआ। वह राजा नियुक्त किया गया और समग्र दण्डनीति का प्रवर्तन उसको सौंपा गया कि वह इस नीति या धर्म का दंड शक्ति द्वारा प्रचार करे जिससे सारा लोक आर्य हो जाय अर्थात् आर्यावर्त्य से विचलित न हो..."कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"...।

नृतत्ववेत्ताओं ने मानव जाति के प्रागैतिहासिक आदिम युग की खोज करके यह निष्कर्ष निकाला है कि अपने विकास के इस प्रारम्भिक स्तर पर सभी मानव जातियों की जीवन-व्यवस्था जन तान्त्रिक थी जिसे आदिम साम्यवाद भी कहा जाता है। इसमें मनुष्य भिन्न जनों में संगठित थे। यह जन समाज वर्ग हीन समाज था। इसमें वर्गभेद उत्पन्न होने का अभी अवसर ही नहीं आया था। यह मानव जीवन की वह अवस्था थी जिसमें मनुष्य ने पशुपालन और कृषि करना नहीं सीखा था, आखेट और बागबानी ही उसकी जीविका के साधन थे, अर्थात् यह तीर धनुष और फावड़े का युग था। अभी उत्पादन के साधनों और तरीकों में इतनी उन्नति नहीं हुई थी कि बड़े पैमाने पर खेती या पशुपालन हो सके।

इस आदिम युग का समाज अनिवार्य रूप से वर्ग विहीन समाज होता है क्योंकि इस स्थिति में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शोषण नहीं कर सकता। उसे दूसरे को अपना गुलाम या आश्रित बनाकर रखने से कोई लाभ नहीं होता क्योंकि उस समय की जीविकोपार्जन-विधि में एक मनुष्य उतना ही उत्पन्न कर सकता था जितना उसके और उसके आश्रित कुटुम्बियों के जीवन यापनार्थ आवश्यक था। उसके पास कोई अतिरिक्त उपज नहीं बचती थी जो उसकी अपनी आवश्यकताओं से अधिक हो और जो उससे ली जा सके। ऐसी अवस्था में कोई मनुष्य दूसरे को अपने अधीन रख कर कोई लाभ नहीं उठा सकता था क्योंकि दास को जीवित और शिकार करने तथा जमीन खोदने के लायक रखने

में उतना ही खर्च होता जितना कि वह स्वामी के पास ला सकता था, अर्थात् मालिक को कुछ भी बचत नहीं हो सकती थी। यही कारण है कि आदिम समाज के मनुष्यों में शोषक और शोषित अथवा शासक और शासित का वर्ग-भेद नहीं था।

इस प्रारम्भिक वर्ग विहीन समाज की जन संस्थाओं को "राज" की संज्ञा नहीं दी जाती। इस अवस्था के मनुष्य बड़ी बड़ी समष्टियों में संगठित होते हैं; किन्तु उनका संगठन राज नहीं वरन् जन होता है। इस संगठन में लोग विशेष कार्यों के लिए मुखिया चुनकर अपना राजनीतिक जीवन संगठित करते हैं। प्राय: वे युद्ध और शान्ति के लिए भिन्न भिन्न पदाधिकारी चुनते हैं। जन के सभी स्त्री-पुरुष साधारण सभाओं में एकत्र होकर प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रश्न का निर्णय करते हैं। संसार के भिन्न भिन्न भागों में इन जन संस्थाओं के रूप मे बहुत कुछ भिन्नता दिखाई देती है और जन विकास की प्रारम्भिक अवस्था की अपेक्षा उस काल में उसका रूप दूसरा होता है जब कि लोग इस अवस्था से निकल रहे होते हैं। उदाहरण के लिए, जन युग के प्रारंभ में मुखिया और नेता सामान्यतः चुने हुए और अस्थाई होते हैं और उनके अधिकार बहुत कुछ सीमित होते हैं। किन्तु इस काल के अन्त में मुखिया आनुवंशिक होने लगते हैं और उनके अधिकार बहुत बढ़ जाते हैं। किन्तु युग में सभी मानव जातियों का बुनियादी सामाजिक ढांचा समान ही होता है। जहां कहीं भी सभ्य मनुष्य इन गण-समाजों की उन्नत संस्कृति के सम्पर्क में में आये हैं, वे उनके नैतिक और शारीरिक विकास को देखकर चकित हुए हैं। सभी ने कहा है कि जन समाज के मनुष्य का जीवन आदिम है और प्रकृति पर उसने बहुत कम प्रभुत्व प्राप्त किया है, किन्तु साथ ही साथ उसमें कुछ ऐसे गुण भी हैं जो दोषों का आंशिक परिमार्जन करते हैं।

अधिकांश अन्वेषक इसका कारण बताने में असमर्थ रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जन समाज का प्रधान गुण, जिससे उसकी अनेक त्रुटियों का परिमार्जन हो जाता है, उसका अर्थ विहीन संगठन है जिस में स्वतन्त्रता और समानता के लिए पूर्ण अवकाश रहता है। जन समष्टियां प्रकृति की दया पर चाहे जितनी आश्रित हों, किन्तु वे वर्ग विरोधों से छिन्न-भिन्न नहीं होतीं और न वे एक भारी दमन यन्त्र के भार और विष से ग्रस्त होती हैं।

फिर इस दीर्घकाल-स्थायी प्राचीन सुन्दर समाज का अन्त किस कारण हुआ? जन व्यवस्था का अन्त करके राजा की सृष्टि करने वाला कारण मानव जीवन में उपस्थित होने वाला आर्थिक परिवर्तन था। क्रमशः विकसित होने वाले उत्पादन के नये साधनों में निजी सम्पति की आवश्यकता तथा उसके

परिणाम-स्वरूप समाज में वर्ग भेद के प्रादुर्भाव ने ही जन समाज का अन्त कर दिया।

उत्पादन के ये नये तरीके थे : हल के द्वारा बड़े पैमाने पर खेती, चौपायों और भेड़ों का पालन, धातुओं का गलाना तथा जहाजों और लद्दू ज'नवरों के द्वारा यातायात के नये प्रकार, जिनसे उत्पादन के नये तरीकों से प्रस्तुत उपज का व्यापारिक विनिमय सम्भव हुआ। किन्तु इन यान्त्रिक आविष्कारों को तब तक अधिक विकसित नहीं किया जा सकता था, जब तक कि उपज और उत्पादन तथा विनिमय के साधनों—जमीन, जहाज आदि पर निजी सम्पत्ति की स्थापना न हो और रुपये की तरह विनिमय का कोई माध्यम न स्थिर किया जाय।

शिकार और बागबानी पर आश्रित रहने वाले जन समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति इतनी कम थी कि उसका कोई महत्व नहीं था। प्रत्येक पुरुष अपने बागबानी के औजारों और शिकार के हथियारों का स्वामी होता था। किन्तु धीरे धीरे मनुष्यों ने अनेक उपयोगी और सुन्दर वस्तुओं का उत्पादन सीखा और उनके उत्पादन के साधनों को प्रस्तुत करना भी सीखा। लोहे की तलवार, नावें और जहाज, पशुओं के ढोर, लकड़ी का हल और उपजाऊ खेत आदि ऐसी वस्तुएं थीं जो अत्यन्त वांछनीय थीं। इनके प्रयोग से मनुष्य ने प्रकृति की दासता से मुक्ति और उस पर बहुत कुछ प्रभुत्व प्राप्त किया। इन स्पृहणीय पदार्थों के उत्पादन के साथ ही यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि इनका स्वामित्व किसे प्राप्त हो ?

इन वांछनीय वस्तुओं की उत्पत्ति के साथ ही यह विचार भी उत्पन्न हुआ कि स्वयं इन वस्तुओं का उत्पादन न करके दूसरी वस्तुओं के उत्पादन और विनिमय के द्वारा इन इष्ट वस्तुओं को प्राप्त किया जाय। इस प्रकार व्यापार की उत्पत्ति हुई। पहले-पहल यह व्यापार जनों के बीच आरम्भ हुआ और इसने गण व्यवस्था को धीरे-धीरे विघटित कर दिया। यूनान के इतिहास में हम इस सन्धिकाल का परिचय पाते हैं। जब यूनानियों ने हल चलाना, व्यापार करना और सम्पत्ति रखना सीख लिया तो उनकी जन-तान्त्रिक सामाजिक व्यवस्था धीरे-धीरे अनुपयुक्त सिद्ध होने लगी। होमर काल के यूनानी, उत्पादन के विकास के उस सन्धिकाल से गुजर रहे थे जिसमें निजी सम्पत्ति पहले पहल महत्व प्राप्त करती है और साथ ही साथ वे यह भी सीख रहे थे कि व्यापार और लूट के द्वारा किस प्रकार और सम्पत्ति का अर्जन किया जाता है। प्रत्येक मानव समाज में विकास की इस अवस्था में एक नयी सामाजिक व्यवस्था आवश्यक हो जाती है जिसका आधार

निजी सम्पत्ति का अर्जन और रक्षा होता है। साथ ही नयी सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल नई राजनीतिक संस्थाओं का जन्म भी आवश्यक हो जाता है जिसमें राज मुख्य है।

जब यूनानियों में व्यापार की वृद्धि हुई तो वहां के लोग बड़ी संख्या में एक व्यापार केन्द्र में एकत्र होने लगे। यह व्यापार केन्द्र एथेन्स का नगर था। इस प्रकार विभिन्न "गोत्रों' और जनों के लोग एथेन्स में एकत्र हुए। यूनानी जाति के, जो इस समय "एटिका" जन संघ के रूप में थी, बाहर के लोग भी इसी आकर्षण से एथेन्स में आने लगे। ये लोग किसी भी "जन" के सदस्य नहीं थे। इसलिए वे प्राचीन जन व्यवस्था में किसी तरह समन्वित नहीं हो सकते थे।

अब दासों का प्रादुर्भाव हुआ। उत्पादन के उन्नत साधनों ने दासों अर्थात् युद्धबन्दियों से अपना काम कराना लाभप्रद बना दिया। वह दास अब अपनी आवश्यकताओं से अतिरिक्त उपज उत्पन्न कर सकता था और यह अतिरिक्त उपज उसका स्वामी अपने उपभोग के लिए उससे ले सकता था, और ले लेता था। इस प्रकार ऐसे दासों की संख्या बढ़ चली जो किसी "जन" के सदस्य नहीं हो सकते थे। तो फिर उन्हें समाज की व्यवस्था में कहां स्थान दिया जाय? इन्हें किस प्रकार अनुशासन में रखा जाय? जन समाज को स्थायी पुलिस या सेना का ज्ञान नहीं था। उसमें प्रत्येक नागरिक स्वतन्त्र और योद्धा था। अनुशासन यद्यपि कठोर था, किन्तु उसकी रक्षा सारे समाज की शक्ति से होती थी। किन्तु दासों की उत्पत्ति ने इस प्रकार के अनुशासन को असम्भव बना दिया। इस नये वर्ग का दमन आवश्यक था। इसके अतिरिक्त समाज में एक दूसरा वर्ग भी शीघ्र उदित हुआ जिसे अनुशासित रखना आवश्यक था क्योंकि जैसे ही उपर्युक्त आर्थिक साधनों का विकास हुआ वैसे ही न केवल दासों और स्वामियों की उत्पत्ति हुई वरन् धनी और दरिद्र, भूस्वामी और कृषक, कर्जदार और महाजन भी उत्पन्न हुए क्योंकि निजी सम्पत्ति की सामान्य वृद्धि के साथ-साथ जमीन में भी निजी सम्पत्ति का उदय हुआ। यह देखा गया कि कृषि के नये तरीकों के साथ वह पुरानी पद्धति मेल नहीं खाती थी जिसके अनुसार जमीन पर "जन" का अधिकार होता था और "जन" ही स्थायी रूप से जमीन के टुकड़ों को व्यक्तियों में बांटता था। कृषि के अधिक उन्नत साधनों ने इस बात को आवश्यक बना दिया कि जमीन पर व्यक्तियों का स्वामित्व हो यद्यपि यह स्वामित्व वास्तविक नहीं सिद्ध हुआ क्योंकि इन कृषकों ने नये और उन्नत ढंग की खेती के साथ अपने इस्तेमाल के लिए ही उत्पादन न

करके बाजार के लिए उत्पादन आरम्भ कर दिया। वे अपनी उपज के विनिमय में शहरों के दासों के द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुएं खरीदने लगे। इस प्रकार साधनों के परिवर्तन के साथ, आर्थिक संगठन में भी परिवर्तन हुआ। अब किसान व्यापारी बन गये और इस व्यापार में कुछ लोग तो अत्यन्त सफल हुए; किन्तु बहुतों को असफलता मिली। ये असफल व्यापारी-कृषक शीघ्र ही ऋणी हो गये और जमीन की निजी संपत्ति के साथ ही साथ रेहनदारी का उदय हुआ और जमीनें एथेन्स के धनिकों के हाथ रेहन होने लगीं और शीघ्र ही न केवल खेत, वरन् स्वयं कृषक और उनके बच्चे भी रेहननामे की वसूली में खरीदे जाने लगे।

सीधी सादी पुरानी जन व्यवस्था, इन नयी आर्थिक और सामाजिक शक्तियों से, मनुष्यों की रक्षा नहीं कर सकती थी। एक नयी सामाजिक व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक हो गई जो समाज के नये विभाजन अर्थात् धनी और दरिद्र तथा स्वामी और दास के वर्ग भेद को स्वीकृति प्रदान करे और साथ ही साथ इन विरोधी सम्बन्धों की कटुता को संयत रखे। यह काम राजा ही कर सकता था। धीरे धीरे शक्ति गोत्रों और "जनों" की पंचायतों के हाथ से निकल कर एथेन्स की राष्ट्रीय सभा और उसके शासनाधिकारियों के हाथों में केन्द्रित होने लगी।

एथेन्स के राज का आरम्भ "सोलन" के विधान से माना जाता है। इस विधान में हम देखते हैं कि राज नये वर्ग भेदों को स्वीकार करता है और कराता है। साथ ही वह निम्न वर्गों के दमन की उस क्रूरता को संयमित भी करता है जो जमीन और दूसरे साधनों में निजी सम्पत्ति तथा व्यापार की आर्थिक शक्तियों के परिणाम स्वरूप इतनी कठोर हो जाती कि सारे समाज का संगठन ही खतरे में पड़ जाता। आधुनिक पूंजीवादी युग के मुक्त व्यवसाय का आदर्श तो ६०० ई० पूर्व में व्यवहार्य नहीं ही था, जब कि वह आधुनिक फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका में भी व्यवहार्य नहीं हो सका। "सोलन" ने नये राज के नागरिकों को, उनकी सम्पत्ति के अनुसार, चार वर्गों में विभाजित किया और इस प्रकार "जन" के राजनीतिक कार्यों का अन्त कर दिया। ऊपर के तीन वर्ग ही पदों को ग्रहण कर सकते थे, यद्यपि चौथा वर्ग भी राष्ट्रीय सभा में बोलने और मत देने का अधिकारी था। साथ ही "सोलन" ने कर्जदारों की जमीन पर महाजनों के दावे को स्वीकृति नहीं दी। नये रेहननामों को भी उसने इसी प्रकार सीमित किया। उसने किसी भी नागरिक के अधिकार में रहने वाली जमीन की सीमा निर्धारित कर दी और कर्जदार के द्वारा अपने शरीर या अपने बच्चों को जमानत में रखना अवैध घोषित कर दिया।

१०
धर्म का स्वरूप

प्रारम्भिक मनुष्य भी अपने अनुभव से विभिन्न वस्तुओं में अनेक सम्बन्ध और कार्य-कारण व्याप्तियाँ व्यावहारिक रूप में बना लेता है और मानसिक दृष्टि से यही उसका विज्ञान है, चाहे इसकी वास्तविकता कुछ भी हो। इसका कुछ भाग तो शुद्ध ज्ञान है और बाकी हिस्सा हमारी विकसित दृष्टि से अप्रमाणिक हो गया है। किन्तु इसमें भी प्रारम्भिक मनुष्य की दृष्टि वैज्ञानिक ही थी। जब वह किसी एक पक्षी की आवाज को शुभ सूचक और दूसरे की आवाज को अशुभ सूचक समझता है तो ये सम्बन्ध उसके अनुभव के सारांश मात्र हैं चाहे यह अनुभव मिथ्या विज्ञान ही हो। किन्तु इसमें धार्मिक भावना का लेश नहीं है।

मनुष्य के इस लौकिक व्यवहार के मुकाबले में उसके अलौकिक व्यवहार को धर्म कहा गया है। टाइलर के सिद्धांत के अनुसार आदिम मनुष्य यह समझता है कि जिस प्रकार मानव शरीर को चलाने वाली आत्मा होती है, उसी प्रकार संसार के कार्यों का संचालन दूसरी आत्माओं द्वारा होता है। प्राकृतिक घटनाओं के कारण-रूप में वह असंख्य दिव्य आत्माओं में विश्वास करता है। जैसे, आकाश की एक आत्मा है। स्वर्ग का देवता आकाश की आत्मा ही है। आदिम मनुष्य देवताओं को अनिर्दिष्ट नित्य जीवों के रूप में देखता था। उसकी कल्पना में देवता एक अलौकिक मनुष्य का अतिरंजित रूप मात्र था। वह सूर्य आदि देवों को अत्यन्त शक्तिमान दिव्य पुरुषों के रूप में कल्पित करता था।

पहले तो इन दिव्य आत्माओं की कल्पना प्राकृतिक तत्वों से मिली जुली रहती है। किन्तु पीछे ये आत्माएँ स्वतन्त्र रूप से उन तत्वों पर शासन करने लगती हैं। जैसे, बर्बर युग में अग्नि देवता लपटों के ही रूप में एक जीव की भांति बल खाता, गरजता और भक्षण करता था। परन्तु कुछ दिनों बाद किसी विशिष्ट अग्नि से स्वतन्त्र, अग्नि तत्व का एक सामान्य देवता हो गया। इसी प्रकार वरुण धीरे-धीरे पानी से इतना स्वतन्त्र हो गया कि वह समुद्र को छोड़कर देवताओं की सभा में उपस्थित होता था।

दुरखीम के अनुसार धर्म लौकिक के मुकाबले में दिव्य ज्ञान तो है ही किन्तु इसके अतिरिक्त वह समान उपासकों का एक संगठन भी होता है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों का अध्ययन करने पर वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि यद्यपि कोई पशु या वृक्ष उनकी पूजा का आलम्बन होता है, किन्तु पशु या वृक्ष अपने आप में मनुष्य की श्रद्धा का विषय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त स्वयं उस पशु को उतना पवित्र नहीं समझा जाता जितना उसके प्रतीक को। इससे यह परिणाम निकलता है प्रतीक किसी देवता का द्योतन करता है और यह देवता वास्तव में उनका जन समाज ही होता है। अब प्रश्न यह होता है कि इस बात के प्रमाण क्या हैं ? और समाज में दिव्य भाव किस प्रकार उत्पन्न हुआ ? इसका उत्तर यह है कि भक्त और देवता का जो सम्बन्ध होता है, वही सम्बन्ध व्यक्ति और समाज का है। समाज भी व्यक्ति पर शासन करता है, व्यक्ति की इच्छाओं और उसके हितों की उपेक्षा करता है और साथ ही साथ व्यक्ति को शक्ति भी प्रदान करता है क्योंकि समाज के साथ चलकर व्यक्ति में आत्म-विश्वास और साहस उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार भक्त में अपने देवता की कृपा-दृष्टि का आभास पाने पर होता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य की सांस्कृतिक सम्पत्ति समाज का प्रसाद होती है। इसी अमूर्त समाज को वह एक मूर्त रूप देकर उसकी उपासना करता है। जन का प्रत्येक व्यक्ति जन समाज का एक अंश होता है और यही समाज-तत्व व्यक्ति में आत्मा के रूप में अवतरित होता है।

दुरखीम का कहना है कि समाज रूपी सत्य पर आश्रित होने के कारण ही धर्म के साथ प्रकृति के सम्बन्ध में अनेक मिथ्या धारणाएँ भी चलती रहती हैं। अन्यथा यह असम्भव था कि ये धारणाएँ इतनी दीर्घकाल-स्थायी होतीं। किन्तु जब धर्म का वास्तविक देवता समाज है और उसका अव्यक्त उद्देश्य बाह्य जगत् के साथ मनुष्य का सामंजस्य-स्थापन नहीं, वरन् समाज का संगठन है तो फिर प्रकृति सम्बन्धी अत्यन्त मिथ्या धारणाएँ भी अप्रासंगिक होने के कारण बनी रह सकती हैं और उनसे उपासक की मनोवृत्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त प्रकृति के नियमों में इतनी समानता है कि वे विस्मय तथा श्रद्धायुक्त गम्भीर धार्मिक भावनाओं का उद्बोधन नहीं कर सकते।

मनुष्य सदा से अपने देवताओं को मानव रूप, मानव भाव और मानव प्रकृति से विभूषित करता आया है। महान् राष्ट्रों के सार्वभौम और सर्वशक्तिमान् देवता भी उनके समाज का ही अनुसरण करते हुए दिखाई देते हैं। उनके भावों और चरित्रों में, उनके संकल्पों और कार्यों में, यहां तक कि उनके रूपों में भी उसी प्रकार परिवर्तन, संशोधन और विकार होते दिखाई देते हैं जैसे

मानव समाजों में दिखायी देते हैं। देवताओं के समाज और शासन का रूप मनुष्यों के समाज और शासन के नमूने पर ही निर्मित होता है।

जिस प्रकार किसी भाषा के विकास से पहले अनेक स्थानीय बोलियां दिखायी देती हैं और उन्हीं से आगे चलकर एक सामान्य भाषा का निर्माण होता है, उसी प्रकार धर्म पहले-पहल प्रत्येक गोत्र से उत्पन्न होता है। जब अनेक गोत्र एक जन के रूप में संगठित हो जाते हैं तब जन धर्म या सामुदायिक धर्म की उत्पत्ति होती है। और जब अनेक जन मिल कर राज बन जाते हैं तब सार्वभौम धर्म की सृष्टि होती है। जन धर्म से सार्वभौम धर्म का यह विकास अराजकता से राज के विकास के सामानान्तर ही होता है।

जब समाज में वर्ण-भेद उत्पन्न हुआ, तब देवताओं में भी वर्ण-भेद दिखायी देने लगा। बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णों की उत्पत्ति बताते हुए, यह बताया गया है कि पहले अकेला ब्रह्म ही था, फिर उसने क्षत्र की सृष्टि की जिसमें इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान देवता थे। इसके बाद ब्रह्म ने विश अर्थात् वैश्यत्व की सृष्टि वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुतों के रूप में की और अन्त में उसने पूषन के रूप में शूद्र वर्ण की सृष्टि की। जिस प्रकार मनुष्यों में मुखिया और राजा होते हैं, उसी प्रकार छोटे देवताओं में बड़े देवता होते हैं। पहाड़ों, नदियों और पेड़ों के स्थानीय देवताओं के ऊपर स्थित ये बड़े देवता अपने व्यापक क्षेत्र पर शासन करते हैं और छोटे देवता उनके अनुचरों और मध्यस्थों का काम करते हैं। भारतीय देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु, और शिव नाना देवताओं पर शासन करते हैं। इन्द्र, सूर्य, अग्नि, पवन, वरुण, यम, काम, युद्ध के देवता कार्तिकेय, अपस्मार के दाता पंचानन और सर्पदंश से त्राण देने वाली मनसा तथा पवित्र नदियां आदि सब देवता त्रिदेवों के अधीन हैं। इन देवताओं के भी नीचे गंधर्व, अप्सरा, सिद्ध, असुर, भूत और राक्षस आदि हैं। किन्तु बहुदेवतावाद की इस पहली मंजिल से आगे चलकर धीरे धीरे एक देवता का प्रभुत्व उसी प्रकार अन्य देवताओं पर स्थापित हो जाता है जिस प्रकार इहलोक में राजा का प्रभुत्व अनेक मुखियों के ऊपर स्थापित हो जाता है। अब त्रिदेव भी सर्वव्यापी परमात्मा या ब्रह्म के तीन गुण ही बन जाते हैं। बहुदेवतावाद की अनेकता में एकेश्वरवाद की स्थापना ऋग्वेद की इस उक्ति से प्रकट होती है......

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः ससुपर्णोगुरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

यदि हम धर्म के आन्तरिक विकास को थोड़े विस्तार से देखें तो हम देखते हैं कि आदिम युग के देवता जनों की सम्पत्ति के ही एक विस्तार रूप में

दिखाती देते हैं अर्थात् वे प्राकृतिक शक्तियां हैं जिन्हें मनुष्य ने आत्मवत् व्यक्तियों का रूप दे दिया है, और जिन्हें वह जन के सदाचार से प्रसन्न और नियन्त्रित करता है। अथवा वे मनुष्य के उन गुणों के अवतार थे जो आदिम मनुष्य के चित्त को अत्यधिक प्रभावित करते थे। हर हालत में वे जन की सम्पत्ति थे। प्रत्येक जन के देवता होते थे और जन को छोड़ने का अर्थ होता था उसके देवताओं के निवास स्थान को छोड़ना। धीरे-धीरे जन के आदर्शों का विकास होता है और साथ ही साथ सौन्दर्य, संघर्ष-शक्ति, काम और मातृत्व आदि अनेक गुणों के देवता उदित होते हैं, जिनमें से कुछ प्रशंसनीय होते हैं और कुछ भयानक। जैसे जैसे देवताओं की संख्या बढ़ी, विशिष्ट सम्प्रदायों और पुरोहितों का उदय हुआ और कारीगरों, योद्धाओं, शासकों तथा स्त्रियों और दासों के अलग अलग वर्ग-देवता बन गये। देवताओं में से लोग उन देवताओं को चुन लेते थे जो उनकी स्थिति तथा इच्छा के अनुकूल होते थे। समुदाय के भीतर प्रतिद्वन्द्वी देवताओं के उपासकों में संघर्ष होने लगा। प्रारम्भिक जन समाज की वह एकता भंग हो गयी जिसमें सभी देवता जन देवता होते थे। अब व्यक्ति की इच्छानुसार उनका चुनाव होने लगा। दूसरी ओर यातायात के-साधनों के विकास के साथ साथ, एक जाति के मुख्य देवता और पड़ोसी जातियों के मुख्य देवताओं में समता देखी जाने लगी। देवताओं का युद्ध बन्द हो गया, विशेष कर उस अवस्था में जब कि वे एक साम्राज्य की सीमा के भीतर आ गये। तब उनके विरोध के स्थान पर, उनका एकीकरण होने लगा और एक सार्वभौम ईश्वर की कल्पना उत्पन्न हुई जो स्वर्ग और पृथ्वी की, स्वतन्त्र और दास, सभी जातियों का शासक है। इस कल्पना के द्वारा धर्म की स्थिति समाज के ऊपर हो गयी और साथ ही साथ उसका एक विशिष्ट रूप भी निखर आया।

इस प्रकार सार्वभौम धर्म की कल्पना का विकास हुआ। छोटे मोटे देवता या तो लुप्त हो गये या उस देवाधिदेव के अधीन उसके सहायक और मन्त्री बन गये। अब नये देवताओं के स्थान पर ईश्वर के अनेक नाम या गुण ही प्रकट होने लगे और उनको प्रकट करने के लिए नये अवतार, नबी और सन्त उत्पन्न होने लगे। अब एक दूसरा विरोध उत्पन्न हुआ जो धर्म और राज के बीच था क्योंकि ये दोनों ही सार्वभौमता का दावा करते थे। इसके साथ ही धर्म के अन्दर भी व्याख्या सम्बन्धी विरोध उत्पन्न हुए। इस समय धर्म ने समुदाय में एक विशिष्ट संगठन का रूप धारण कर लिया था और सभी मनुष्यों की अन्तरात्मा पर उसका अधिकार स्थापित हो गया था। उसने अनेक जटिल नियमों का निर्माण किया जिनका पालन समाज के प्रत्येक सदस्य के

लिये अनिवार्य था। किन्तु मानव व्यक्तित्व इस प्रकार बन्धनों में बंधा नहीं रह सकता था, विशेष कर ऐसे मामलों में जिनमें सन्देह के लिए पूरा अवकाश है और जिनका सम्बन्ध संसार के स्वरूप के विषय में मनुष्य की व्यक्तिगत और आन्तरिक भावनाओं से है। अतएव एक धर्म अनेक सम्प्रदायों में बंट गया और कोई भी ईश्वरीय अधिकार अथवा नास्तिकों के लिए निर्धारित कोई भी दण्ड उसकी एकता को सुरक्षित नहीं रख सका।

किन्तु इस विभाजन का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि धर्म अपने विशिष्ट, व्यक्तिगत और आन्तरिक रूप में आ गया। इस रूप में धर्म को अपना एक विशेष लक्ष्य प्राप्त हो गया और वह समुदाय के लौकिक जीवन में विलीन हो जाने से बच गया। साथ ही साथ वह उस रूढ़िवादी जड़ता से भी बच गया जो धार्मिक चित्त का स्वभाव समझी जाती है। उसे अपने रहस्यों की ऐसी व्याख्या करनी पड़ी जिससे वे निरर्थक और निर्जीव प्रतीक मात्र न बन जाएं। किन्तु इस स्वतन्त्रता के साथ ही धर्म अपना वह अधिकार खो देता है जिसके द्वारा वह लौकिक मामलों में हस्तक्षेप और नैतिक तथा भौतिक अत्याचार की शक्ति रखता था। अब वह एक बाह्य शक्ति के स्थान पर मानव चित्त की उस आन्तरिक भावना का रूप ले लेता है जो सृष्टि में एक प्रयोजन और एक संगति देखती है। इस भावना से भावित सभी लोग स्वतन्त्र रूप से किसी धार्मिक संगठन के रूप में संगठित हो सकते हैं और यह संगठन उनके धार्मिक जीवन का माध्यम बन सकता है। इस प्रकार धर्म के व्यक्तिगत रूप से सामाजिकता की हानि न होकर उसका लाभ ही होता है।

११

सामाजिक नियन्त्रण की शक्तियां

प्रारम्भिक समूह में व्यक्ति पर सहज रूप से उसके साथियों के कार्यों और संकेतों का प्रभाव पड़ता है। भीड़ में व्यक्ति, आत्म-नियन्त्रण को खोकर सामाजिक मनोवृत्ति से अभिभूत हो जाते हैं। इन दोनों अवस्थाओं में व्यक्ति पर एक प्रकार का सहज सामूहिक नियन्त्रण स्थापित होता है जिसके द्वारा मनुष्य एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। यही सब प्रकार के सामाजिक नियन्त्रण का मूल आधार है।

धीरे-धीरे, साथ रहने वाले मनुष्यों के व्यवहार की कुछ सामान्य परम्पराएं बन जाती हैं। सामान्य व्यवहार के इन परम्परागत तरीकों को, जो किसी समाज में सहज और उचित माने जाते हैं, लोक परम्परा की संज्ञा दी जाती है। लोक परम्परा के द्वारा मनुष्यों का वर्तमान व्यवहार उनके पूर्व-कालीन व्यवहार से नियन्त्रित होता है। यहां भी व्यक्ति ही एक दूसरे का नियन्त्रण करते हैं, क्योंकि लोक परम्परा जीवित व्यक्तियों से जीवित व्यक्तियों को प्राप्त होती चलती है। प्रत्येक व्यक्ति इस परम्परा का प्रतिनिधि बन जाता है, जबकि वह स्वयं उसका अनुसरण करता है और उसके पालन या अपालन के लिए दूसरों की प्रशंसा या निन्दा करता है।

लोक परम्परा को दो भागों में विभाजित किया गया है : एक को लोक रीति और दूसरे को लोक नीति कहते हैं। लोक रीति तो वह सब कुछ है जो लोग करते हैं; किन्तु लोक नीति वह है जिसे लोग समाज के योग क्षेम के लिए आवश्यक और पवित्र मानते हैं। दूसरे शब्दों में समाज-विहित लोक रीति ही लोक नीति है। सामाजिक विधान भी दो प्रकार का होता है : एक तो समाज के सदस्यों द्वारा व्यक्तिगत रूप से की गयी प्रशंसा और निन्दा के रूप में, और दूसरा परम्परा-सिद्ध तथा समाज-स्वीकृत नियमों के रूप में। पहले को सहज विधान कहते हैं और दूसरे को व्यवस्थित विधान।

लोक नीति सहज विधान द्वारा विहित परम्परा है। इसके विपरीत संस्थाओं का नियन्त्रण व्यवस्थित विधान के द्वारा कार्यान्वित होता है। इसके लिए स्वीकृत नियम तथा उन नियमों के प्रयोग की निश्चित विधियां और उन्हें कार्यान्वित करने वाले पदाधिकारियों का संस्थान आवश्यक होता है। यदि कोई

व्यक्ति समाज-स्वीकृत रीति-नीति के विरुद्ध कार्य करता है, तो कोई भी दूसरा व्यक्ति उसकी निन्दा कर सकता है या उसका बहिष्कार कर सकता है। किन्तु किसी संस्था के विधान को उपयुक्त पदाधिकारी ही कार्यान्वित कर सकते हैं। किसी बच्चे के माता-पिता, उसकी शिक्षा-दीक्षा जिस प्रकार करते हैं, उसमें कोई दूसरा व्यक्ति सामान्यतः हस्तक्षेप नहीं कर करता; चाहे इस विषय में उसकी राय कुछ भी हो। कोई आदमी यह कह सकता है कि सट्टा बाजार चोरों का अड्डा है, किन्तु अधिकारी ही किसी दलाल को उसके स्थान से हटा सकता है।

संस्थागत नियन्त्रण का अन्तिम रूप कानून होता है जिसकी विधान-सम्मत व्याख्या न्यायालय करते हैं और जो पुलीस की शक्ति के द्वारा कार्यान्वित होता है। कानून के अनेक मूल होते हैं, जैसे लोक रीति, नियम विधान, प्रशासकीय आज्ञाएं इत्यादि। किन्तु कानून के विशिष्ट अर्थ में इन में से किसी को हम तब तक कानून नहीं कह सकते जब तक न्यायालयों में उनका प्रयोग न हो। बहुत सी रीतियां और नीतियां कानून के रूप में कभी नहीं आतीं, और बहुत सी आ जाती हैं। एक राय यह है कि कोई नियम या परम्परा तब कानून का अंग बन जाती है जब वह इतनी स्थिर हो जाती है कि न्यायालय के द्वारा उसका समर्थन निश्चित मान लिया जा सकता है। इस मत के अनुसार बहुत से कानून बिना नियम-विधान के और बिना न्यायालय के सामने आये ही बनते रहते हैं। इस अर्थ में सभी सामाजिक नियमों को हम कानून कह सकते हैं, चाहे उनका नियमित विधान हुआ हो या न हुआ हो और चाहे उनका विधान सहज रूप में हो या व्यवस्थित रूप से। किन्तु दूसरे मत के अनुसार राजनीतिक रूप से संगठित समाज की दण्ड शक्ति के नियमित प्रयोग के द्वारा जो सामाजिक नियन्त्रिण होता है, उसी को कानून या विधि कहा जा सकता है। इस परिभाषा के अनुसार कानून, सामाजिक नियन्त्रण के अनेक रूपों में से ही एक रूप है।

न्यायालय भी समय की गति से प्रभावित होते हैं। उनके कार्यों को समझने के लिए समाज की अन्य संस्थाओं को समझना आवश्यक होता है। कानून की शक्ति का मूल सामाजिक संस्थाओं की रचना में होता है। न्यायालय निर्णय करते हैं, किन्तु वे उन पारिवारिक, आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण नहीं करते जिनके आधार पर वे निर्णय देते हैं। किसी सुव्यवस्थित समाज में भी नियमों के उल्लंघन के जितने मामले न्यायालय में जा सकते हैं, उनका एक अंश ही वस्तुतः न्यायालय में जाता है। यद्यपि कुछ विशेष प्रकार के नियमों का पालन, राज के अधिकारी ही कराते हैं; किन्तु अन्य नियमों का

पालन अन्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों अथवा स्वयं लोक नीति में सुधार चाहने वाले व्यक्तियों की प्रेरणा से होता है।

प्रत्येक संस्था, सामान्य लोकनीतियों की अधीनता में काम करती है। इस सामान्य विधि के अतिरिक्त वह जीवन के किसी विशेष क्षेत्र में और प्रायः किसी विशेष समुदाय पर, बुद्धिपूर्वक नियमित नियंन्त्रण का काम करती है। सामान्य नीतियों के आधार पर ही, मनुष्यों के विशेष समुदाय, विशेष कार्यों और हितों के लिए औपचारिक नियमों का निर्माण और प्रयोग करते हैं।

धर्म और राज जैसी संस्थाओं का अधिकार-क्षेत्र प्रायः बहुत व्यापक हो जाया करता है, और समाज के सभी व्यक्ति तथा सभी कार्य उनके प्रभाव के अधीन हो जाते हैं। उनके अधिकारी उन विषयों को औपचारिक रूप से नियमबद्ध करते हैं जो लोक नीति के अधीन रहे हैं और उन पर अपनी संस्था की औपचारिक नीति की व्याख्या करने और उसे कार्यान्वित करने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, तब यही लोक नीति कानून बन जाती है। अन्य संस्थाएँ, जीवन के बहुत छोटे क्षेत्रों का नियमन करती हैं। उदाहरण के लिए किसी पेशे का संगठन बुद्धिपूर्वक नियमों का निर्माण करता है और उस पेशे के लोगों पर उन्हें लागू करता है, यद्यपि उसका कुछ प्रभाव कभी-कभी जन-साधारण पर भी पड़ता है। किन्तु वास्तव में ये संगठन सामाजिक रीति नीति के अधीन होते हैं। उदाहरण के लिए चिकित्सकों का संगठन सामान्य लोक नीति और जनता के चिकित्सा सम्बन्धी विश्वासों की उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रत्येक संस्था, समाज के लोगों का किसी न किसी प्रकार का वर्गीकरण इस दृष्टि से करती है कि वे कहाँ तक और किस रूप में उस संस्था के क्षेत्र में आते हैं। प्रत्येक वर्ग के अन्दर सदस्यों के सम्बन्ध और विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्दिष्ट कर दिए जाते हैं। संस्थागत नियम विशेष रूप से स्थान और पद के अनुसार व्यक्तियों के कर्त्तव्यों को निर्धारित करते हैं।

उदाहरण के लिए परिवार को लीजिए। चाहे परिवार के व्यक्तियों का सम्बन्ध कितना भी घनिष्ठ हो किन्तु परिवार, पति पत्नी और बच्चों तथा अन्य सम्बन्धियों के पारस्परिक सम्बन्धों का संस्थान ही होता है। उनके पारस्परिक कर्त्तव्य लोक रीति, लोक नीति और कानून के द्वारा निर्दिष्ट होते हैं। इसी प्रकार राज के नागरिकों के राज्य के प्रति कर्त्तव्य और अधिकार निर्धारित रहते हैं। कारखाने में मालिक, मैनेजर और मजदूर, विद्यालयों में कुलपति, अध्यापक और विद्यार्थी, न्यायालय में न्यायाधीश, वादी-प्रतिवादी तथा साक्षी, चिकित्सालय में चिकित्सक और रोगी आदि संस्थागत वर्गों के उदाहरण हैं। कानून किसी व्यक्ति का पक्ष नहीं करता, इसका यही अर्थ है कि वह व्यक्तियों पर इन्हीं वर्गों की दृष्टि

से विचार करता है और जो बातें इस दृष्टि से विचारणीय विषय से सम्बन्ध नहीं रखतीं, उनका विचार नहीं करता। समाज के समस्त कार्यों और हितों के सामंजस्य की दृष्टि से इन वर्गों को परिवर्तित और विकसित करना संस्थाओं का काम है।

प्रत्येक संस्था का सम्बन्ध सामान्य जनता से रहता है। उसके कुछ स्वार्थ और अधिकार होते हैं, जिनके द्वारा वह अपने अस्तित्व की रक्षा करती है और अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति करती है। समाज उसको किसी न किसी प्रकार से स्वीकृति प्रदान करता है।

उदाहरण के लिए परिवार को लीजिए। वह लोक नीति द्वारा स्वीकृत होता है। परिवार में लोगों को एक साथ रहने का और सन्तान-पालन का अवसर मिलता है। जो कोई परिवार बनाता है, उसे परिवार का औचित्य नहीं सिद्ध करना पड़ता, इतना सिद्ध करना पड़ सकता है कि उसे परिवार बनाने का अधिकार है। उसके बारे में लोग यह कह सकते हैं कि उसकी उम्र बहुत कम या बहुत अधिक है, वह बहुत साधनहीन है या वह जिसे अपना जीवन संगी बनाना चाहता है, उसकी अवस्था, वर्ग, जाति या धर्म उपयुक्त नहीं है। ये सब विशेष परिस्थितियाँ विचारणीय हो सकती हैं। किन्तु विवाह और पारिवारिक जीवन अपने आप में विवादास्पद नहीं है।

प्रत्येक परिवार को अन्य परिवारों के एक समुदाय की स्वीकृति भी प्राप्त करनी पड़ती है। वह एक सामाजिक वर्ग के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। इसके लिए परिवार के कुछ सदस्यों को बुद्धि पूर्वक विचार और प्रयत्न करना पड़ता है। परिवार अपने समुदाय में क्या स्थान रखना चाहता है और वह समुदाय किस प्रकार का है, इन बातों का विचार करके ही वह परिवार अपनी आमदनी और खर्च का चिट्ठा बनाता है और अपनी खर्च की मदों और रकमों को निर्धारित करता है। यद्यपि लोकनीति, परिवार को एक संस्था के रूप में स्वीकृति प्रदान करती है किन्तु प्रत्येक परिवार को अन्य परिवारों के बीच अपना स्थान बनाए रखने के लिए बुद्धि पूर्वक प्रयत्न करना पड़ता है, अर्थात् लोक नीति के अतिरिक्त उसकी अपनी कुल नीति भी होती है, चाहे वह शब्दों के रूप में शायद ही कभी निर्धारित होती हो।

सामाजिक परिवर्तन के साथ, परिवार के कार्यों में भी परिवर्तन होते हैं। आधुनिक काल में विभिन्न अवस्थाओं के बच्चों की देख-रेख के लिए संस्थाएँ बन गयी हैं और यद्यपि बच्चों के अभिभावक उनके माता-पिता ही होते हैं, किन्तु अनेक बातों में उनका नियन्त्रण उनके हाथ से निकल कर अन्य संस्थाओं के हाथ में चला गया है। अधिकांश स्थानों में अनिवार्य शिक्षा की

व्यवस्था है और माता-पिता इस बात के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं कि वे अपने बच्चों को स्कूल न जाने दें। सार्वजनिक स्वास्थ्याधिकारी उन्हें विवश कर सकते हैं कि वे अपने बच्चों को भिन्न-भिन्न बीमारियों के टीके लगवायें; यद्यपि सामान्य सामाजिक सिद्धान्त यही है कि बच्चों की जिम्मेदारी माँ-बाप पर है किन्तु उनके स्वास्थ्य और शिक्षा के सम्बन्ध में विशेष रूप से जाग्रत जन-मत का विकास हुआ है। परिवार के बाहर की अन्य संस्थाएं माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध भी बच्चों पर अधिकार रखती हैं। इस उदाहरण से यह पता चलता है कि लोकनीति-स्वीकृत कोई संस्था, जनमत परिवर्तित होने के कारण, किस प्रकार अपने कुछ अधिकारों को खो देती है और दूसरी संस्थाओं को दे देती है।

अन्य संस्थाएं, परिवार से भी अधिक, समाज में अपना स्थान निर्दिष्ट करने और अपने अस्तित्व का अधिकार सिद्ध करने की प्रवृत्ति रखती हैं। उनके अधिकारी अन्य संस्थाओं के प्रति और अपने सदस्यों के प्रति एक नीति निर्धा-रित करते हैं। इस नीति को वे समाज-स्वीकृत आदेशों अर्थात् लोकनीति तथा प्रचलित समाज दर्शन के अनुकूल शब्दों में निरूपित करते हैं। इस नीति का सम्बन्ध उन कार्यों से होता है, जो किसी संस्था के अधिकारियों के अनुभव में, उस संस्था के स्थायित्व के लिए आवश्यक होते हैं। वे बड़े दूर के खतरों को देखते हैं और छोटी-छोटी बातों को बहुत महत्व देते हैं। संक्षेप में, वर्तमान को भूत और भविष्य की पृष्ठभूमि पर देखना ही नीति की परिभाषा है। इस नीति का पालन संस्था के अवयवों के आन्तरिक सामंजस्य पर निर्भर करता है। यदि उसके अधिकारियों का नियन्त्रण का अधिकार, अन्य सदस्यों द्वारा स्वीकृत न हो तो कोई नीति नहीं चल सकती। परिवार भी अपना स्थान समाज में तभी बनाये रख सकता है जब उसके सदस्यों में एकता बनी रहे।

किसी नीति को चलाने के लिए जनमत के ऊपर कुछ नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। संस्थाएं जनमत के प्रभाव में रहती हैं। इसलिए वे प्रचार करती हैं। यदि किसी संस्था का सामाजिक परम्परा में निश्चित स्थान होता है और उसके अधिकारियों का अधिकार माना जाता है, तो वे अपने अनुयायियों से विश्वास पूर्वक व्यवहार कर सकती हैं। आज के समाज में बहुत सी संस्थाएं, परम्परागत अधिकारों से रहित हो गयी हैं और जिनको ऐसा अधिकार प्राप्त भी है, उन्हें भी विरोधी शक्तियों के प्रचार का मुकाबला करना पड़ता है। प्रचार तत्वतः इस बात का प्रयत्न है कि लोग वही सोचें और करें जो प्रचारक चाहता है।

लौकिक संस्थाओं का प्रचार सामान्यतः जनता की सामाजिक कल्याण सम्बन्धी धारणा को बदलना नहीं चाहता। उसका यही प्रयास होता है कि मान्य आदर्शों के साथ उस संस्था का सम्बन्ध जोड़ दें। वर्तमान समाज में सभी प्रचारक स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के नारों का प्रयोग करते हैं और आजकल सामाजिक सुरक्षा भी एक नारा बन गया है।

१२

सामाजिक प्रगति का सार्वभौम नियम

समाज के ऐतिहासिक विकास से हम यह देखते हैं कि कोई समाज तब तक एक ही अवस्था में पड़ा रहता है जब तक कि दूसरों का प्रभाव उसे उस अवस्था से निकाल नहीं देता और किसी समाज की प्रगति में कोई नया युग तभी उपस्थित होता है जबकि उससे पहले उस समाज का किसी नये समाज से सम्पर्क होता है। प्रगति का कोई महत्वपूर्ण क़दम तभी उठता है जब कि अनेक भिन्न समुदाय एक दूसरे से मिलते और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, चाहे उनका यह सम्पर्क हिंसात्मक अर्थात् युद्ध जनित हो या अहिंसात्मक और शान्तिमय हो। यही नियम सांस्कृतिक प्रगति की कुंजी है। यदि हम सामाजिक विकास के विभिन्न युगों का अवलोकन करें तो इस नियम का महत्व स्पष्ट हो जाएगा।

आदिम अवस्था में मानव समूहों के सम्पर्क का एक मात्र रूप युद्ध ही था। उस समय के समूह एक दूसरे के शत्रु थे और पशुओं की भांति उस भूमि के लिए लड़ते थे जिसमें उनकी खाद्य सामग्री प्राप्त होती थी। उनके युद्धों का महत्वपूर्ण परिणाम यह होता था कि जो समुदाय अधिक शक्तिशाली अर्थात् संगठित होता था वह कमजोर समूह को नष्ट कर देता था। जब मनुष्यों का संगठन कुछ और उन्नत हुआ तब भिन्न-भिन्न समूहों का सम्पर्क और सम्मिश्रण, स्त्रियों के अपहरण के द्वारा होने लगा। विजित स्त्रियां दो शत्रु-समुदायों में एक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करती थीं और अपने विजेता स्वामियों को अपनी जाति की संस्कृति का ज्ञान कराती थीं। अपहरण से ही आदिम समाज में विवाह का आरम्भ हुआ और स्त्री-पुरुष के बीच श्रम-विभाजन के आधार पर परिवार की स्थापना हुई।

इसके बाद युद्ध-जनित हिंसात्मक सम्पर्क के स्थान पर व्यापार-जनित शान्तिमय सम्पर्क आरम्भ हुआ। वस्तुओं और स्त्रियों की लूट की अपेक्षा इनका विनिमय अधिक लाभकर सिद्ध हुआ जिसके द्वारा अनेक पड़ोसी जातियों के श्रम-विभाजन के आधार पर एक बड़े संगठन का सूत्रपात हुआ। यह नया

अन्तर्जातीय संगठन आरम्भ में तो पड़ोस के आधार पर स्थापित और अस्थिर होता था; किन्तु कृषि के आविष्कार के बाद इसे प्रबल आन्तरिक बन्धनों का आधार प्राप्त हुआ जिससे वह एक बार फिर हिंसात्मक दमन तथा शोषण के लिए तैयार हो गया। क्योंकि अब विजेताओं के लिए अपने विजित पड़ोसियों को दास बनाकर अपनी जाति में मिला लेना सम्भव हो गया और जिस प्रकार स्त्रियों की दासता से स्त्री पुरुष के बीच पहले पहल पारिवारिक श्रम-विभाजन का आरम्भ हुआ उसी प्रकार पुरुषों की दासता से पुरुषों के बीच औद्योगिक श्रम-विभाजन की स्थापना हुई जिससे सभ्यता का आरम्भ माना जाता है। इस प्रकार प्रगति का यह बड़ा कदम भी विभिन्न जातियों के एक नये सम्बन्ध से आरम्भ हुआ। यहाँ पर एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि पुरुषों के बीच इस श्रम-विभाजन की सम्भावना कृषि के आविष्कार से उत्पन्न हुई किन्तु जिन जातियों ने, जैसे अमेरिकन इन्डियन लोगों ने, विजित जातियों को दासों के रूप में अपने संगठन का अंग नहीं बनाया, उनमें यह सम्भावना ही रह गयी। उनका श्रम-विभाजन स्त्री पुरुष के बीच पारिवारिक स्तर पर ही बना रहा। पुरुषों के बीच औद्योगिक स्तर पर विभाजन नहीं हुआ और वे सभ्यता में आगे नहीं बढ़ सके। इस दूसरे श्रम-विभाजन के बाद भी सभ्यता के आरम्भ में पड़ोसी जातियों में बराबर संघर्ष होता रहा और इन संघर्षों के परिणाम स्वरूप और भी अधिक जातीय समुदाय एक नेतृत्व के अधीन संगठित हो गये और इस प्रकार राज की उत्पत्ति हुई जिससे व्यापार का व्यवस्थित संगठन हुआ और श्रम की औद्योगिक व्यवस्था पूर्ण रूप से विकसित हुई।

जब तक कि राज जो स्वयं बड़े-बड़े जातीय संघ थे, अलग-अलग रहे और अपने-अपने साधनों पर ही आश्रित रहे, जैसे भारत, चीन, मिश्र, पेरू, मैक्सिको और जापान के प्राचीन राज्य थे, तब तक वे दीर्घकाल-स्थायी होते हुए भी प्राचीन उद्योग-व्यवस्था में ही रहे और पूंजीवादी उद्योग-व्यवस्था की ओर नहीं बढ़ सके। किन्तु जब कुछ यूरोपीय राज्य पूर्व के सम्पर्क में आये और पहले से ऊंचे स्तर पर उनका एक सम्मिलित संगठन बना, तब पूंजीवादी व्यवस्था का उदय हुआ जिसका आधार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार था। मानव-समुदायों का इतना व्यापक सम्पर्क संसार में इससे पहले कभी नहीं हुआ था। इस विश्वव्यापी सम्पर्क के परिणाम स्वरूप प्राचीन राष्ट्रों की सदियों की संचित सारी सांस्कृतिक सिद्धियों का उत्तराधिकार भाग्यशाली यूरोपियनों को प्राप्त हो गया। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा कि सारी पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति और शालीनता उन ओजस्वी विचारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है

जो उसे एशिया या मिस्र से प्राप्त हुए हैं।

संक्षेप में हम प्रगति के सिद्धान्त को इस प्रकार कह सकते हैं : संस्कृति की प्रगति का मूल स्वभावतः मनुष्य के शारीरिक और मानसिक गुणों में, उसकी सामाजिक प्रवृत्तियों, उसकी भाषा, उसकी बुद्धि आदि में है। किन्तु प्रगति की प्रेरक शक्ति न तो व्यक्ति में है न पृथक समुदायों में, वरन् सामुदायिक सम्पर्क और समुदायों के एकीकरण में है और समुदायों के बीच जीवन संघर्ष में होने वाला चुनाव, प्रगति को व्यापक और सार्वभौम बनाता है।

समाज के विकास के साथ-साथ उसके अंगों का भी विकास होता है। समाज के अंग उसके व्यक्ति और व्यक्तियों के अनेक प्रकार के संगठन होते हैं। जिस प्रकार विकासवान शरीर में विभिन्न अंगों का वैशिष्ट्य प्रस्फुटित होता है, उसी प्रकार विकासमान समाज की एकता के भीतर व्यक्तियों का व्यक्तित्व और उनके संगठनों का विशिष्ट रूप स्पष्ट रूप में पृथक-पृथक दिखायी देने लगता है। इस नियम का उदाहरण हम मानव संगठनों के विकास में पाते हैं। समाज का पहला रूप परिवार था, किन्तु वह आज का परिवार नहीं था। वह एक प्रकार का एकरस समुदाय था जो रक्त-सम्बन्ध से बँधा हुआ था। इस समुदाय के भीतर परिवार का कोई विशिष्ट रूप नहीं था; न उसमें राजा था, न कोई विशिष्ट धर्म था और न कोई पृथक् आर्थिक संगठन था। गोत्र का मुखिया या पितामह ही उसका नियन्ता और पुरोहित था, क्योंकि शासक और पुरोहित के पद अलग नहीं हुए थे। अधिकार का स्थान और उसके रूप अस्पष्ट और अनिश्चित थे। लोक रीति ही नियम या कानून थी और वही नीति या धर्म थी। नीति का आधार समुदाय की कार्यविधि ही थी, न कि व्यक्ति के हृदय में प्रतिष्ठित उचित और अनुचित की स्वतन्त्र चेतना। व्यक्ति की अन्तरात्मा उन्हीं बातों की अनुमति देती थी जो समुदाय के आदर्शों के अनुकूल होते थे और धर्म के आदेशों के द्वारा विहित होते थे। मीमांसा दर्शन में जैमिनी ने धर्म का लक्षण वैदिक विधियों की प्रेरणा ही बताया है। ऐसी स्थिति में शासक नियमों का निर्माता नहीं होता, प्रकाशक मात्र होता है। जिस तरह वैदिक ऋषि वेदों के निर्माता नहीं थे, उनके द्रष्टा मात्र थे क्योंकि सामाजिक नियमों का वास्तविक मूल तो सामाजिक परम्परा है जो दीर्घकाल-सिद्ध होने के कारण प्रामाणिक और पवित्र मान ली जाती है और उस समाज की विशेष सम्पत्ति समझी जाती है।

व्यक्तित्व के विकास ने जीवन के विभिन्न अंगों की इस साम्यावस्था का अन्त कर दिया। सभ्यता के विकास में बराबर ऐसे संक्रान्ति-काल आते रहे हैं जिनमें लोगों ने अपने विकासमान व्यक्तित्व की आवश्यकताओं के अनुकूल

नया समाज बनाने का प्रयत्न किया; उन्होंने विष्णु से राजा की मांग की और वैदिक विधियों के स्थान पर लौकिक विधियों का निर्माण किया। वैदिक धार्मिक विधियों और लौकिक राजनीतिक विधियों का भेद मानने लगे। इस संक्रान्ति के बाद परिवार, गोत्र समुदाय की साम्यावस्था को भंग करके एक विशिष्ट संगठन के रूप में उदित हुआ। आदिम समुदायों का आधार रक्त-सम्बन्ध होता है। उनका यह विश्वास होता है कि वे सब एक ही पूर्वज की सन्तान और आपस में भाई हैं। उनका अभिमान और प्रेम, उनका अधिकार और कर्तव्य, सब कुछ बन्धुत्व की भावना में ही निहित होता है। समाज के स्थायित्व की पहली शर्त नयी पीढ़ी की रक्षा है और रक्षा की यही सहज प्रकृति विकसित होकर समाज के सभी सदस्यों को घेर लेती है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने भाई की रक्षा करे और ऐसा न करना ही समाज के विरुद्ध सबसे पहला पाप है। प्रत्येक भाई पर दूसरे भाई के भरण-पोषण और उसको हानि पहुंचाने वालों से प्रतिशोध लेने का भार था। यह सम्बन्ध कितना प्रबल होता था, यह प्राचीन हिन्दू परम्परा में देखा जा सकता है जिसके अनुसार एक भाई के मर जाने पर उसकी पत्नी और उसके बच्चों की रक्षा और भरण-पोषण उसके भाई का कर्तव्य होता है। परिवार का घर सामाजिक जीवन का केन्द्र था और कुलदेवता उसकी रक्षा करते थे।

किन्तु गोत्र की आत्मनिर्भरता पूर्ण कभी नहीं थी। विवाह की प्रवृत्ति, मनुष्य को गोत्र की सीमा से बाहर ले जाती है। वे आक्रमण या अपहरण के द्वारा दूसरे गोत्र से बन्दी स्त्रियों को घर लाकर अपनी पत्नी बनाते थे और उनसे सन्तान उत्पन्न करते थे। जब भी वे अपने पड़ोसियों के देश को जीतते थे, उनकी स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति बनाते थे। धीरे-धीरे व्यापार और यात्रा के द्वारा विभिन्न गोत्रों में मैत्री स्थापित हुई और उनके बड़े-बड़े नये संगठन बने जिन्हें "जन" कहते हैं। जब ये अपनी संख्या-वृद्धि अथवा दूसरे विजित जनों के सम्मिश्रण के द्वारा बढ़े, तब बन्धुत्व की भावना का क्षेत्र विस्तृत हो गया जिसके कारण वह भावना हल्की पड़ गयी और इस बात की आवश्यकता हुई कि दूसरे सम्बन्धों की भावना से उसे पुष्ट किया जाय। अब जन ने जाति का रूप ले लिया जिसमें अनेक प्रकार की रुचियां और ऊंच-नीच तथा छोटे-बड़े के भेद दिखाई देने लगे। इन भेदों ने आत्मीयता की भावना को हल्का कर दिया जिससे वह युद्ध जैसे संकट के समय ही सक्रिय रूप में दिखायी देती थी। बढ़ते हुए श्रम-विभाजन ने गोत्र की आर्थिक आत्मनिर्भरता का अन्त कर दिया। राज शक्ति के विकास ने परिवार के

पितामह के बहुत से अधिकार छीन लिए। किसी समय में उसे परिवार के सदस्यों के जीवन और मृत्यु का अधिकार प्राप्त था किन्तु अब राज, पारिवारिक अन्यायों के लिए दंड देने लगा और पारिवारिक अधिकारों की रक्षा करने लगा। अब परिवारों पर यह भार नहीं रहा कि वे स्वयं अन्य परिवारों के द्वारा किये गये अन्याय का प्रतिकार करें। यह काम राज ने अपने हाथ में ले लिया। इसी प्रकार बहुदेवतावाद के स्थान पर एकेश्वरवाद की स्थापना हुई और नाना कुल मात्र रह गये—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।"

इस विकास में, समाज के अंगों का विकास स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। अपनी आत्मनिर्भरता का त्याग करके परिवार ने अपने वास्तविक विशिष्ट रूप को प्राप्त किया। अब वह बन्धुत्व की भावना से बंधे हुए सम्बन्धियों का समुदाय नहीं रह गया। वह गोत्र के अन्दर रहते हुए भी उससे पृथक हो गया। पितामह की शक्ति का अन्त करके उसने स्त्री-पुरुष के बीच एक नये सम्बन्ध की सम्भावना उत्पन्न की। अब स्त्री सम्पत्ति नहीं रही। उसमें व्यक्तित्व का विकास हुआ। प्राचीन परिवार में स्त्रियों की ही हीनावस्था ने स्त्री-पुरुष के प्रेम को निर्जीव बना रखा था। अब उसमें अनन्त विस्तार और विकास की शक्ति अनुभूत होने लगी। प्रेम की सूक्ष्म भावनाओं का प्रस्फुटन समानता के वातावरण में ही हो सकता था, गहरे, घनिष्ठ सम्बन्ध बड़ों और छोटों के बीच नहीं, समान और स्वतन्त्र व्यक्तियों के बीच ही स्थापित होते हैं। जैसे-जैसे परिवार एक के बाद एक अपने कार्यों को छोड़ता गया वैसे-वैसे वह अपने स्वरूप को प्राप्त करता गया। वह एक ऐसा संगठन बन गया जिसमें पति-पत्नी, माता-पिता बनते हैं और उनका सम्बन्ध प्रेम से आरम्भ होकर माता-पिता और सन्तान के कौटुम्बिक स्नेह के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार के विकसित परिवार में ही ये भाव मुख्य रूप से चरितार्थ हो सकते हैं और हम देखते हैं कि विकसित समाज में इस प्रकार के परिवार का विकास होता है। यह परिवार, विस्तार में जो कुछ खो देता है उससे अधिक गुणों के रूप में प्राप्त करता है। परिवार के सदस्य अब बड़े समाज से अधिक शिक्षा, रक्षा तथा जीवनोपयोगी वस्तुएं प्राप्त करते हैं। इस प्रकार समाज का विकास व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्रदान करता है और परिवार की वह सीमाएं स्पष्ट कर देता है जिसके अन्दर ही वह अपने विशिष्ट कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन कर सकता है।

इसी प्रकार यदि हम धर्म और राज आदि अन्य सामाजिक संगठनों के विकास का विस्तारपूर्वक अध्ययन करें तो समाज के इन सभी अंगों के

सम्बन्ध में यही नियम दिखायी देता है कि समाज के विकास के साथ ही उसके अंगों का भी विकास होता है। उसके ये सब अंग पहले साम्यावस्था में एक दूसरे के साथ अविभक्त रूप में पड़े हुए थे, किन्तु जैसे-जैसे समाज आगे बढ़ता गया, उसके अन्दर उनके कार्य की पृथक-पृथक सीमाएं निर्धारित हो जाती हैं जिनमें वे अपने विशिष्ट स्वरूप को प्राप्त करते हैं और अपने उद्देश्य को चरितार्थ करते हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि साम्यावस्था में इन सबका क्षेत्र व्यापक होता है और ये एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप करते रहते हैं। इस संघर्ष तथा अविवेक के कारण व्यक्ति और समाज की शक्ति का बहुत अपव्यय होता है। राज और धर्म के अविवेक से संसार में बड़े-बड़े उत्पात हुए हैं। जब उनका क्षेत्र निर्धारित हो जाता है, तब ये अपना-अपना कार्य बिना संघर्ष के मुक्त रूप से करने लगते हैं, जिससे व्यक्ति और समाज के जीवन में अधिक शान्ति और सुख का विस्तार होता है। व्यक्ति और समाज के इस विकास में "साम्यं लयः वैषम्यं सृष्टिः" का सिद्धान्त प्रतिफलित होता है।

१३
भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याएं

सामाजिक समस्याओं का तात्पर्य विशेष कर उन समस्याओं से होता है जिनसे समाज के धारण में कठिनाई उपस्थित होती है, जिन से समाज के संगठन के लिये खतरा पैदा हो जाता है। स्पष्ट है कि ऐसी समस्याएं वही होंगी जो समाज के विभिन्न अंगों और प्रत्यंगों में सामंजस्य के स्थान पर विरोध और संघर्ष उत्पन्न करेंगी। समाज के अंग व्यक्ति और उनके अनेक समुदाय और वर्ग हैं। परिवार समाज का मूल समुदाय है। यदि उसमें विगठनकारी तत्वों का आविर्भाव होता है और उनके सदस्यों में वैमनस्य उत्पन्न होता है तो समाज की नींव ही हिल जाती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न समुदायों और वर्गों में संघर्ष होता है तो समाज के छिन्न भिन्न हो जाने का खतरा प्रत्यक्ष ही है। इस दृष्टि से भारतीय समाज की समस्याएं तीन वर्गों में विभाजित होती हैं: परिवार भेद, वर्ग भेद और समुदाय भेद। वर्गों में दो प्रकार के वर्ग हैं: एक तो आर्थिक, दूसरे सामाजिक अर्थात वर्ण या जातियां। इसी प्रकार समुदायों में एक धार्मिक साम्प्रदायिक और दूसरे सांस्कृतिक प्रादेशिक दो प्रकार के समुदाय हैं: साम्प्रदायिक जैसे हिन्दू मुसलमान आदि और प्रादेशिक जैसे बंगाली, मराठी, आन्ध्र, तमिल आदि। इनके अतिरिक्त राजनीतिक दल तथा सांस्कृतिक संघ या संस्थाएं हैं। किन्तु इनमें विगठनकारी संघर्ष वहीं तक होता है जहां तक ये विभिन्न वर्गों या समुदायों के विरोधों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अन्यथा शुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टि से संगठित राजनीतिक दलों या सांस्कृतिक संस्थाओं का स्वस्थ संघर्ष कोई समस्या नहीं बनता, प्रत्युत वह तो देश की उन्नति के लिये आवश्यक है। इसलिए समस्याओं के प्रसंग में इनका कोई अलग उल्लेख अनावश्यक है।

पहले हम भारतीय समाज की पारिवारिक समस्याओं को लें। इस वर्ग में अनेक समस्याएं आती हैं जिनमें अविवाहित रहने की समस्या, दहेज प्रथा, बाल विवाह, अनमेल विवाह, बहु पत्नी प्रथा, विधवा विवाह निषेध, पत्नी त्याग, व्यभिचार, वेश्यावृत्ति, अधिक सन्तान तथा बच्चों के पोषण की समस्या

तथा अनाथ और उपेक्षित बच्चों की समस्याएं मुख्य हैं। इन सभी पारिवारिक समस्याओं के मूल में दो मुख्य कारण समान रूप से दिखाई देते हैं। एक तो हमारी जीर्ण सामाजिक व्यवस्था जो आज के समय के लिये उपयुक्त नहीं है और जिसके कारण हमारे पारिवारिक तथा सांस्कृतिक जीवन-स्तर में सर्वतोमुखी ह्रास दिखलायी दे रहा है। इस जीर्ण समाज व्यवस्था के अन्तर्गत हमारी जाति प्रथा, स्त्रियों के प्रति हीनता की भावना तथा अनेक मध्ययुगीन मनोवृत्तियां और रूढ़ियां हैं, जैसे विवाह में वर-वधू की रुचि की सर्वथा उपेक्षा, विवाह, बारात में सम्पत्ति का अपव्यय, प्रेम का अत्यधिक दमन आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त हमारे समाज में जो आर्थिक वैषम्य है, वह भी इन समस्याओं का एक मूल कारण है। इस वैषम्य की बुनियादें भी प्राचीन कृषक समाज में ही पड़ चुकी हैं, किन्तु आज के औद्योगिक पूंजीवाद ने उसे और भी तीव्र तथा कुत्सित रूप में उपस्थित किया है। जब तक समाज में आर्थिक समता की स्थापना नहीं होती और जन शिक्षा तथा कानून की सहायता से असंगत सामाजिक प्रथाओं और असामयिक मूढ़ग्रहों का अन्त नहीं होता, तब तक इन समस्याओं का मूलोच्छेद असम्भव है।

उदाहरण के लिये वेश्यावृत्ति को लीजिए और देखिए कि पतन की कितनी मंजिलें पार करके एक असहाय स्त्री वेश्या बन जाती है। पहले दहेज प्रस्तुत करने की कठिनाई के कारण समय पर उसका विवाह नहीं होता। इस बीच एक पुरुष से उसका अवैध सम्बन्ध हो जाता है। यदि वह पुरुष उसी की जाति का होता तब तो इस सम्बन्ध को विवाह रूप में परिणत करने में विशेष कठिनाई न होती। किन्तु दुर्भाग्य वश वह दूसरी जाति का है। ऐसी स्थिति में अपने परिवार और समाज में उसके लिये स्थान नहीं रह जाता और उसे अपने भरण-पोषण के लिये इधर उधर भटकना पड़ता है। स्त्री का पारिवारिक सम्पत्ति में तो अधिकार होता ही नहीं। इस असहायावस्था में वह आसानी से कुछ ऐसे लोगों के चक्कर में पड़ जाती है जो वेश्यावृत्ति से ही अपनी रोजी चलाते हैं। अब अगर कोई कभी उसे इस गर्त से निकालना भी चाहे, तो वह देखेगी कि जाति-प्रथा उसकी नियति बनकर उसके सामने खड़ी है। आखिर उससे विवाह कौन करेगा? और यदि कोई इतना साहस भी करे, या वह स्वयं विवाह करके सुखी जीवन व्यतीत करने का लोभ त्याग भी दे, तो उसकी सन्तान का क्या होगा? उनका सम्बन्ध किस जाति में होगा? इसी तरह वेश्यावृत्ति पर ही जीने वालों की अलग जातियां बन गयी हैं और इस विष-चक्र से निकलने का उनके लिये कोई उपाय नहीं है। आज कल इस बात की चर्चा है कि लाल चीन में वेश्यावृत्ति का कानून के द्वारा अन्त कर दिया गया है। किन्तु इस

प्रसंग में यह याद रखना चाहिए कि चीन में जाति-प्रथा नहीं है। एक बार जो पुरुष सामाजिक तिरस्कार का सामना करके किसी वेश्या के साथ विवाह कर लेगा, उसकी भावी सन्तान के सामने वैसी कठिनाइयां नहीं आयेंगी जैसी भारत में हैं और उन्हें समाज से पृथक होकर एक बहिष्कृत जाति के रूप में जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता नहीं होगी।

इस एक उदाहरण से हम देख सकते हैं कि दरिद्रता और मध्ययुगीन प्रथाएं किस प्रकार पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं को उत्पन्न करती हैं। दरिद्रता तो उस आर्थिक वैषम्य का एक वर्ग है जो समाज को धनी और दरिद्र दो वर्गों में विभाजित करता है। और मध्ययुगीन प्रथाएं उस सांस्कृतिक वैषम्य का एक पक्ष है जो आज की आर्थिक शक्तियों और सामाजिक संस्थाओं के बीच दिखायी देता है। सामूहिक यन्त्र-उद्योग के नये तरीकों के मुकाबले में व्यक्तिगत खेती और गृह उद्योग के पुराने तरीके टूटते चले जा रहे हैं। बढ़ती हुई जन संख्या के दबाव और बेकारी के भार से सम्मिलित कुटुम्ब टूट रहे हैं। गांवों के किसान गांव-घर छोड़ कर बड़े बड़े औद्योगिक नगरों में एकत्र हो रहे हैं, जिनका वातावरण गांवों के वातावरण से सर्वथा भिन्न रहता है। पुराने अभ्यस्त जीवन और नयी आर्थिक व्यवस्था के इस वैषम्य ने हमारे समाज में अनेक नयी समस्याएं उपस्थित कर दी हैं। प्राचीन और नवीन की इस कशमकश में जीवन पतनोन्मुख हो रहा है। एक ओर जहां गांवों में मुकदमेबाजी और पारिवारिक विगठन का बोलबाला है, वहां दूसरी ओर बड़े-बड़े उद्योग-केन्द्रों में नैतिक पतन का बाजार गरम है और मजदूर बस्तियों में मनुष्य कीड़े-मकोड़ों की तरह जीवन व्यतीत कर रहे हैं। प्रश्न यह है कि इन सब खराबियों की जिम्मेवारी किस पर है, प्राचीन पर या नवीन पर? वास्तव में यह संक्रान्ति की समस्या है। नयी परिस्थिति में पुरानी सामाजिक संस्थाओं का अन्त तो आवश्यक है ही, किन्तु इनका स्थान लेने के लिए उपयुक्त नयी संस्थाओं का विकास भी आवश्यक है, जो अभी नहीं हो पाया है। यदि आज उत्पादन सामूहिक हो गया है तो सम्पत्ति पर सामाजिक स्वामित्व भी स्थापित करके बढ़े हुए आर्थिक वैषम्य और बेकारी को दूर किया जा सकता है। आज वैज्ञानिकों ने सन्तति नियमन और परिवार नियोजन को सम्भव बना दिया है जिससे जन संख्या के दबाव को नियन्त्रित किया जा सकता है। यदि सम्मिलित कुटुम्ब टूट रहे हैं और परिवार के सदस्यों को अपनी जीविका के लिए परिवार से निकल कर सामाजिक उत्पादन में भाग लेना पड़ रहा है तो उनके पारिवारिक कर्त्तव्यों की पूर्ति में सहायता देनेवाली अनेक संस्थाएं भी विकसित हुई हैं। यदि किसानों को गांव छोड़ कर

शहरों में मजदूर बनना पड़ रहा है तो उनके लिए शहरों में भी स्वच्छ और स्वस्थ जीवन का प्रबन्ध हो सकता है। पाश्चात्य देशों में यह सब हो रहा है। किन्तु भारत में अभी नए आर्थिक जीवन के अनुकूल इन नयी व्यवस्थाओं का विकास नहीं हो पाया है। इसीलिए आज जीवन में एक रिक्तता दिखायी दे रही है और उसमें निष्ठा का अभाव है। पुरानी मान्यताओं का सहारा टूट गया है और नयी मान्यताओं का उदय नहीं हुआ है। इस असहायावस्था में मनुष्य किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो रहा है। उसे जीवन पर विश्वास नहीं है। ऐसी स्थिति में उसका पतन सहज है। उसे इससे बचाने के लिए हमें इस संक्रान्ति का नियोजन करना होगा। यह देखना होगा कि हमारी आर्थिक शक्तियों का विकास इस रूप में न हो कि हमारी सांस्कृतिक शक्तियाँ उससे विच्छिन्न हो जाएँ। हमें अपने उत्पादन को इस रूप में बढ़ाना पड़ेगा जिससे बेकारी न बढ़ने पाए। छोटे-छोटे यन्त्रों का आविष्कार और उनके द्वारा विकेन्द्रित उद्योग-व्यवस्था इस संक्रान्ति काल की महान् आवश्यकता और आज के भारत की आर्थिक समस्याओं का एक मात्र समाधान प्रतीत होती है।

आर्थिक वर्गों अर्थात् साधन सम्पन्नों और साधन हीनों का भेद वर्ग-भेद की समस्या का आर्थिक पक्ष है और जाति भेद उसका सामाजिक पक्ष है। पारिवारिक समस्याओं में हम जाति भेद को एक मुख्य कारण के रूप में देख चुके हैं। वास्तव में जाति भेद भारतीय समाज की वह मूल समस्या है जो सभी अन्य समस्याओं में अनुस्यूत है, चाहे वे पारिवारिक हों, वर्ग गत हों या साम्प्रदायिक हों। किन्तु इसका सबसे बड़ा और मुख्य दोष यह है कि इससे राष्ट्र की एकता में बाधा पड़ती है। राष्ट्र की एकता के लिए उसके सब वर्गों में समानता आवश्यक है। जिन राज्यों की प्रजा में समानता नहीं होती, उनके हाथ से राज सत्ता निकल जाती है और दबे हुए असन्तुष्ट तथा अशिक्षित और असमर्थ वर्गों की सहायता अथवा उदासीनता से दूसरे के हाथ में चली जाती है। इसी समानता के अभाव में भारत का राज विदेशियों के हाथ में चला गया था। इसलिए समानता की स्थापना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में जाति प्रथा, जो इस समानता की सिद्धि में बाधक है, प्रगति विरोधी होकर एक समस्या बन गयी है। आज भारत की राष्ट्रीयता की सिद्धि और जनता में भेद मूलक क्षुद्र जात्यभिमान के स्थान पर समता मूलक बृहद राष्ट्राभिमान को प्रतिष्ठित करने के लिए जाति प्रथा का अन्त आवश्यक हो गया है। अछूतों की समस्या इस प्रथा का निकृष्टतम रूप है। उससे स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रथा के रहते राष्ट्र के जीवन में सारी जनता का हार्दिक सहयोग किस प्रकार असम्भव है।

जाति भेद का प्रभाव समाज की सारी जीवन विधि, उसके आदर्शों और सामाजिक विवेक पर पड़ता है। स्पष्ट है कि यह व्यवस्था व्यक्तियों के वास्तविक गुणों और शक्तियों की उपेक्षा करती है और नीच जाति के लोगों को अपनी शक्तियों के विकास का अवसर न देकर समाज को उनकी योग्यता और सहयोग के फलों से वंचित करती है। सुविधा-प्राप्त वर्गों में योग्य व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है। इसका मुख्य कारण यही है कि समाज में उन्हें वे अनक सुविधाएं प्राप्त हैं जिनसे अन्य लोग वंचित हैं। और इसमें सन्देह नहीं कि यदि सुविधाएं निम्न वर्ग के लोगों को भी प्राप्त हों तो समाज को योग्य व्यक्तियों की सेवाएं अधिक संख्या में प्राप्त होंगी।

इस प्रकार वास्तविक गुणों के विकास को सीमित करने वाला समाज, गुणों के स्थान पर एक दूसरे गलत मानदण्ड का निर्माण करता है। मनुष्य की प्रतिष्ठा उसके व्यक्तिगत गुणों के कारण न होकर उसकी जाति मर्यादा के अनुसार होती है। विवाह का आधार भी आज जाति ही है। जाति की सीमा के कारण बहुधा वर-वधू के चुनाव में व्यक्तिगत गुणों और समान शील व्यसन तथा पारस्परिक अनुकूलता की चिन्ता ही नहीं की जाती जो कि विवाह की प्रारम्भिक आवश्यकताएं हैं। यही कारण है कि आज अनेक नर नारियों का वैवाहिक जीवन नीरस और कटु हो गया है और परिवार अन्दर से भग्न और खोखला हो गया है। इसी प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी वास्तविक योग्यता तिरस्कृत रहती है और प्रोत्साहन के गलत मानदण्डों का प्रयोग होता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में समाज में सच्चे मूल्यों की स्थापना नहीं हो सकती, न उसमें सद्गुण पनप सकते हैं। ऐसा समाज अवश्य ही अन्य समता-मूलक समाजों की अपेक्षा निर्बल होगा और जीवन-संघर्ष में उनके मुकाबले में ठहरना उसके लिये कठिन होगा।